CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मानव सेवा संघ

[मूलभूत सिद्धांतों की व्याख्या]

प्रकाशकः-

मानव सेवा संघ, वृन्दावन

मूल्य ।-)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

द्वितीय संस्करण—४,००० प्रतियाँ
संवत् २०११

मानव सेवा संघ, बृन्दावन
द्वारा
सर्वाधिकार सुरक्षित।

मुद्रक—
हरि मोहन इ० प्रिंटिंग प्रेस,
पुरानी बस्ती, जयपुर।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मु
३२५

ॐ श्री हरिः शरणम् ।

प्रकाशकीय

आज जिस ग्रन्थ-रत्न के प्रकाशन का गौरव मुझे मिल रहा है, उसके महत्त्व के विषय में मुझे कुछ नहीं कहना है । पुस्तक आपके हाथों में है, वह अपना परिचय स्वयं देगी । मुझे विश्वास है, इस ग्रंथ के मनन तथा इसके उपदेशों को कार्यान्वित करने से पाठकों का आध्यात्मिक स्तर अवश्य विकसित होगा और आज के युद्ध-जर्जर पथभ्रष्ट मानव समाज को शान्ति मिलेगी ।

जिन महानुभाव परमदयालु संत की प्रेरणा से मानव सेवा संघ का जन्म हुआ है, उन्हीं के श्री मुख से संघ के ग्यारह मूलभूत सिद्धान्तों की व्याख्या, पुस्तकाकार प्रकाशित करने का सौभाग्य इस सेवक को प्राप्त हुआ है। इसके लिए परमपिता परमेश्वर को धन्यवाद तथा स्वामीजी के चरणकमलों में कोटिशः नमस्कार ।

शीघ्रता के कारण मुद्रण की कुछ त्रुटियाँ रह गई होंगी, आशा करता हूँ सहृदय पाठक इसके लिए मुझे क्षमा करेंगे ।

अन्त में मैं उन सभी सज्जनों को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन में मेरी सहायता की है । पूज्य स्वामीजी जो मानव सेवा सङ्घ के जन्मदाता हैं; जिनकी संतवाणी को लिपिबद्ध किया है, और जो अपना नाम प्रकाशन नहीं पसन्द करेंगे, मैं उनका विशेषरूप

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

से आभारी हूँ। प्रोफेसर रा० सिंह काश्यप ने पुस्तक का प्रूफ देखने में मेरी मदद की है, लेकिन वह तो मेरे इतने निकट हैं कि उन्हें धन्यवाद क्या दूँ ? उन पर मेरा अधिकार है। मैं उन्हें आशीर्वाद देता हूँ।

विनीत--

रामेश्वर सिंह

(रिटायर्ड मजिस्ट्रेट तथा कलक्टर)

प्रधान मन्त्री, मानव सेवा संघ,

वृन्दावन, उत्तर प्रदेश।

अनंत चतुर्दशी, भाद्रपद,

संवत् २०१०

कदमकुआं, पटना।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

328

ॐ

मानव-सेवा-संघ

मानव अथवा मानव-जीवन

मानव किसी आकृति विशेष का ही नाम नहीं है । जो प्राणी अपनी निर्बलता एवं दोषों को देखने और उन्हें निवृत्त करने में समर्थ है, वही वास्तव में 'मानव' कहा जा सकता है ।

साधनयुक्त जीवन ही मानव जीवन है:—जीवन का निरीक्षण करने पर हम अपने को अन्य प्राणियों की अपेक्षा विवेकी तथा विश्वासी पाते हैं । साथ ही हम अपने में देह जनित स्वभावों की अनेकों आसक्तियों का समूह भी देखते हैं । उन आसक्ति जनित निर्बलताओं से पीड़ित होकर ही हम उन्हें मिटाने के लिए विवेक के प्रकाश और विकल्प रहित विश्वास के आधार पर साधन का निर्माण करते हैं । उस साधनयुक्त जीवन को ही मानव-जीवन कहते हैं ।

साधन रहित जीवन मानव-जीवन नहीं और साधनातीत जीवन भी मानव-जीवन नहीं । साधनरहित जीवन तो पशु-जीवन है और साधनातीत जीवन दिव्य, चिन्मय अथवा पूर्ण जीवन है । दूसरे शब्दों में दिव्यता, चिन्मयता अथवा पूर्णता की लालसा और देह जनित स्वभाव अर्थात् इन्द्रिय जनित आसक्ति की निर्बलता—ये दोनों जिसमें एक साथ विद्यमान हैं, वही मानव-जीवन है ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति तथा अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति करना ही मानव-जीवन का लक्ष्य है। दिव्यता, चिन्मयता, नित्यता एवं पूर्णता की प्राप्ति मानव की स्वाभाविक आवश्यकता है, तथा इन्द्रिय जन्य ज्ञान में सद्भाव होने से जो राग होता है, उससे प्रेरित होकर जिन इच्छाओं की उत्पत्ति होती है, वे ही अस्वाभाविक इच्छाएँ हैं।

स्वाभाविक आवश्यकता उसी की होती है जिससे जातीय अथवा स्वरूप की एकता हो तथा अस्वाभाविक इच्छा उसी की होती है जिससे मानी हुई एकता और स्वरूप से भिन्नता हो। दिव्यता, चिन्मयता, नित्यता एवं पूर्णता हमें स्वभावतः प्रिय हैं, पर इन्द्रिय जन्य विषयाशक्ति ने उस स्वाभाविक आवश्यकता को ढक-सा लिया है और अस्वाभाविक इच्छाओं को उत्पन्न कर दिया है, जिसके फलस्वरूप हम मानवता से विमुख होकर पशुता में प्रवृत्त तथा अग्रसर होते हैं, जो वास्तव में प्रमाद है। अतः जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है उसकी प्राप्ति और जिससे मानी हुई एकता एवं स्वरूप से भिन्नता है उसकी निवृत्ति करना ही मानव-जीवन का मुख्य उद्देश्य है। इस प्रकार 'है' की प्राप्ति और 'नहीं' की निवृत्ति ही मानव-जीवन की पूर्णता है।

सेवा

अपने स्वार्थ-रहित कर्त्तव्य से दूसरों के अधिकारों की रक्षा करना ही सेवा है, क्योंकि समाज के अधिकारों का समूह ही व्यक्ति का जीवन है। सेवा व्यक्ति को समाज से अभिन्न करने में समर्थ है, जिससे अनेकता एकता में विलीन हो जाती है और किसी प्रकार की विषमता शेष नहीं रहती। यही मानव जीवन की माँग है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

फ
३२५

संघ

राग और द्वेष को त्याग तथा प्रेम में परिवर्तित करने के लिए साधनयुक्त प्राणियों का समूह ही संघ है । अथवा अपने निर्माण द्वारा सुन्दर समाज का निर्माण करने और पारस्परिक संघर्षों का अन्त करने में जो सतत प्रयत्नशील हैं उन साधनयुक्त प्राणियों का नाम ही संघ है ।

मानव सेवा-संघ के नियम और उनका विवरण

१. आत्म-निरीक्षण अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना ।

आत्म-निरीक्षण का वास्तविक अर्थ है अपने पर अपना नेतृत्व करना । अपना निरीक्षण अपने बनाए हुए दोषों की निवृत्ति का सबसे पहिला उपाय है । अपने निरीक्षण के बिना निर्दोषता की उपलब्धि सम्भव नहीं है, क्योंकि निज विवेक के प्रकाश में देखे हुए दोष सुगमता से मिटाए जा सकते हैं ।

अपना निरीक्षण करने पर असत्य का ज्ञान एवं सत्य से एकता और प्राप्त बल तथा योग्यता का सदुपयोग स्वतः होने लगता है । यदि हम असत्य को नहीं देख पाएँ अथवा सत्य से अभिन्न एवं अपने कर्त्तव्य से परिचित नहीं हुए तो समझना चाहिए कि हमने अपना निरीक्षण नहीं किया । अपना यथेष्ट निरीक्षण करने पर किसी अन्य गुरु या ग्रन्थ की आवश्यकता ही नहीं रहती कारण कि जिसके प्रकाश में सब कुछ हो रहा है, उसमें अनन्त ज्ञान तथा अनन्त शक्ति विद्य-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मान है। अपना निरीक्षण करते-करते प्राणी उससे अभिन्न हो जाता है, जो वास्तव में सब का सब कुछ होते हुए भी सबसे अतीत है। अपना निरीक्षण हमें बल के सदुपयोग और विवेक के आदर की प्रेरणा देता है। बल के सदुपयोग से निर्बलताएँ और विवेक के आदर से अविवेक स्वतः मिट जाता है।

प्रत्येक प्राणी अपने से अधिक बलवानों के किसी भी प्रकार के बल का अपने प्रति सदुपयोग की आशा करता है, पर वह स्वयं अपने प्राप्त बल का निर्बलों के प्रति दुरुपयोग करता है। यह प्राप्त विवेक का अनादर नहीं तो क्या है?

बल का अर्थ है सभी प्रकार के बल अर्थात् तन-बल, धन-बल, विद्या-बल और पद अथवा प्रभुता बल इत्यादि। धन के दुरुपयोग से ही समाज में निर्धनता, शिक्षा अर्थात् ज्ञान, विज्ञान और कलाओं के दुरुपयोग से समाज में अविवेक की वृद्धि, तन-बल के दुरुपयोग से समाज में हिंसा और चोरी, प्रभुता के दुरुपयोग से विरोधी शासन का जन्म आदि दुर्गुणों की वृद्धि होती है।

प्रत्येक प्राणी को अपनी रक्षा स्वभावतः प्रिय है, फिर भी वह स्वयं अहिंसक न रहकर हिंसा में प्रवृत्त होता है, जिससे हृदय वैर भाव से भर जाता है, जो संघर्ष का मूल है। अतः संघर्ष मिटाने के लिए प्रत्येक भाई-बहिन को अपना हृदय वैर-भाव से रहित करना होगा। वैर-भाव से रहित होने के लिए अहिंसक होना अत्यन्त आवश्यक है। अपनी रक्षा की प्रियता का विवेक हमें अहिंसक होने की प्रेरणा देता है, जो अनादि सत्य है, पर आज तो हम वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

फ
३२५

हिंसात्मक प्रयोगों से संघर्ष मिटाने की बात सोच रहे हैं, जो सर्वथा असम्भव है, कारण कि विवेक के अनादर से ही प्राणी के मनमें संघर्ष उत्पन्न हुआ है। अतएव जब तक विवेकपूर्वक मन का संघर्ष न मिटेगा, तब तक समाज में होने वाले संघर्ष कभी नहीं मिट सकते, चाहे वे वैयक्तिक हों या कौटुम्बिक अथवा सामाजिक।

प्रत्येक अपराधी अपने प्रति क्षमा की आशा करता है और दूसरों को दंड देने की ही व्यवस्था चाहता है। वह अपने प्रति तो दूसरों से अहिंसक निर्वैर, उदार, क्षमाशील, त्यागी, सत्यवादी और विनम्रता आदि दिव्य गुणों से पूर्ण व्यवहार की आशा करता है, किन्तु स्वयं उसी प्रकार का सद्व्यवहार दूसरों के प्रति नहीं कर पाता। अपने प्रति मधुरता-युक्त सम्मान की आशा करता है, पर दूसरों के प्रति अपमान एवम् कटुतापूर्ण असद्व्यवहार करता है, जो वास्तव में भूल है। इसका परिणाम यह होता है कि प्राणी अपने प्रति रागी और दूसरों के प्रति दोषी हो जाता है, जो सभी दुखों का मूल है।

अपने प्रति होने वाले अन्याय को सहन करते हुए यदि अन्याय-कर्त्ता को क्षमा कर दिया जाय तो द्वेष प्रेम में बदल जाता है और अपने द्वारा होने वाले अन्याय से स्वयं पीड़ित होकर जब उससे (जिसके प्रति अन्याय हो गया है) क्षमा माँग ली जाय और इस प्रकार उससे क्षमा माँगते हुए अपने प्रति न्याय कर स्वयं दंड स्वीकार कर लिया जाय तो राग त्याग में बदल जाता है।

जब राग और द्वेष त्याग और प्रेम में बदल जाते हैं, तब मुक्ति और भक्ति की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। अथवा यों कहो कि अभिन्नता और असंगता स्वतः आ जाती है। यही वास्तविक आनन्द है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अपना निरीक्षण करने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जब हम राग से प्रेरित होकर इन्द्रियों की ओर गतिशील होते हैं, तब इन्द्रिय जन्य ज्ञान के आधार पर हमें अनेक प्रकार की विषमताओं का भास होता है और इन्द्रिय जन्य स्वभाव में प्रवृत्त होने से हम क्रिया जन्य सुख की आसक्ति तथा परतन्त्रता, जड़ता आदि में भी आबद्ध हो जाते हैं। इतना ही नहीं, अन्त में हम शक्ति-हीनता का अनुभव कर स्वाभाविक विश्राम अर्थात् निवृत्ति को अपनाते हैं, जिसके फलस्वरूप शक्ति-हीनता मिटती जाती है और बिना प्रयत्न के ही आवश्यक शक्ति की उपलब्धि होती जाती है।

यदि शक्ति-हीनता, जड़ता, विषमता इत्यादि दुःखों से दुःखी होकर हम निवृत्ति द्वारा संचित शक्ति का व्यय न करके विषयों से विमुख होकर अन्तर्मुख हो जावें, तो भोग योग में, जड़ता चेतना में, विषमता समता में, पराधीनता स्वाधीनता में और अनेकता एकता में बदल जाती है। फिर स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति एवं अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति स्वतः ही हो जाती है. जो मानव की मांग है।

अपनी वर्त्तमान वस्तुस्थिति का यथेष्ट स्पष्ट परिचय प्राप्त करना ही वास्तविक आत्म-निरीक्षण है। उसके बिना हम अपने को निर्दोष बना ही नहीं सकते। मानव में दोष-दर्शन की दृष्टि स्वतः विद्यमान है, पर प्रमादवश प्राणी उसका उपयोग अपने जीवन पर न करके अन्य पर करने लगता है जिसका परिणाम बड़ा ही भयंकर एवं दुःखद सिद्ध होता है। पराये दोष देखने से सबसे बड़ी हानि यह होती है कि प्राणी अपने दोष देखने से वंचित हो जाता है और मिथ्याभिमान में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आबद्ध होकर हृदय में घृणा उत्पन्न कर लेता है यद्यपि हृदय प्रीति का स्थल है, घृणा का नहीं--पर ऐसा तभी सम्भव है जब मानव पराए दोष न देख कर अपने दोष देखने में सतत् प्रयत्नशील बना रहे। अपने तथा पराये दोष देखने में एक बड़ा अन्तर यह है कि पराए दोष देखते समय हम दोषों से सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, जिससे कालान्तर में स्वयं दोषी बन जाते हैं, पर अपना दोष देखते ही हम अपने को दोषों से असंग कर लेते हैं, जिससे स्वतः निर्दोषिता आ जाती है जो सभी को प्रिय है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि दोष-दर्शन की दृष्टि का उपयोग केवल अपने ही जीवन पर करना है, किसी अन्य पर नहीं।

यद्यपि अनादि सत्य बीज रूप से प्रत्येक मानव में विद्यमान है, पर उसका आदर न करने से प्राणी उस सत्य से विमुख हो गया है और परिवर्त्तनशील वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों में आबद्ध होकर उसने अपने को दीन-हीन तथा अभिमानी और परतंत्र बना लिया है। इस दुःखद बंधन से छुटकारा पाने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि प्राणी प्राप्त विवेक के प्रकाश में (जो चिर सत्य है) अपनी दशा का निरीक्षण करे और वस्तु, अवस्था आदि से असंग होकर दुराचार को सदाचार में परिवर्तित करके अपने को निर्विकार बनाए।

यह प्रत्येक मानव का अनुभव है कि दृश्य का सम्बन्ध सुख-दुःख में आबद्ध करता है और दृश्य से असंग होने पर किसी प्रकार का दुःख शेष नहीं रहता। प्रिय से प्रिय वस्तु तथा व्यक्ति से सम्बन्ध स्वीकार करने पर भी प्राणी अपने को अलग करना चाहता है कारण कि सबसे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अलग हुए बिना वह चिर-शान्ति तथा शक्ति नहीं पाता जो उसे स्वभाव से ही प्रिय है। यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्राणी प्रिय से प्रिय प्रवृत्ति से थककर गहरी नींद के लिए प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु आदि से अलग होना चाहता है। यद्यपि सुषुप्ति में किसी भी प्रकार का वैषम्य तथा दुःख शेष नहीं रहता, तथापि उससे भी प्राणी स्वयं उपराम हो जाता है और किसी ऐसी अवस्था की खोज करता है जिसमें सुषुप्ति के समान साम्य तथा दुःख रहितता तो हो, किन्तु संज्ञाशून्यता न हो। उस स्थिति के उपलब्ध हो जाने पर जब वह उससे भी उत्थान देखता है, तब उत्थान रहित, अलौकिक, अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन के लिए व्याकुल होता है अर्थात् निर्विकल्प स्थिति से परे निर्विकल्प बोध की लालसा करता है, जो सभी अवस्थाओं से अतीत और स्वतः सिद्ध है। इस स्वतः सिद्ध अनन्त जीवन की रुचि मानव मात्र में स्वभाव से ही विद्यमान है। इसके लिए सभी अवस्थाओं से विमुख होना अनिवार्य है। अवस्थाओं से विमुख होते ही इस अवस्थातीत जीवन का अनुभव हो जाता है।

अपना निरीक्षण ही वास्तविक सत्संग, स्वाध्याय और अध्ययन है कारण कि अपने निरीक्षण के बिना प्राणी किसी ऐसे सत्य तथा तत्त्व एवं ज्ञान की उपलब्धि ही नहीं कर सकता जो उसमें स्वयं न हो। अतः अपने निरीक्षण द्वारा ही हम वास्तविक सत्य तथा तत्त्व एवं ज्ञान को उपलब्ध कर सकते हैं।

अपना निरीक्षण करते ही जिस विवेक से असत्य का दर्शन होता है, वही विवेक उसे सत्य से अभिन्न भी कर सकता है और उसी के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

द्वारा सत्य से अभिन्न और असत्य से निवृत्त होने का उपाय प्राप्त होता है। आत्म-निरीक्षण के बिना कोई भी सद्ग्रन्थ तथा सद्गुरु से मिला प्रकाश अपने काम नहीं आता। वह केवल मस्तिष्क का संग्रह बन जाता है जो कि नक्शे की नदी के तुल्य है। प्रत्येक नक्शा हमें वास्तविकता तक पहुँचाने का साधन अवश्य है, परन्तु उसे देखकर संतोष करने से न तो एक बूंद जल मिलेगा न प्यास बुझेगी।

अपने निरीक्षण के साथ-साथ ही हमें सद्ग्रन्थ तथा सत्पुरुषों के प्रकाश का उपयोग करना चाहिए। आत्म-निरीक्षण द्वारा जब हम अपनी सभी प्रियताओं को जान लेते हैं, तब फिर हमारे द्वारा कोई ऐसी चेष्टा नहीं होती जिसमें दूसरों की प्रियता तथा हित निहित नहो।

जब हम प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपनी वर्त्तमान वस्तु-स्थिति का विश्लेषण करते हैं, तब हमें अपने में भोगों की इच्छा अर्थात् इन्द्रिय जन्य स्वभाव में प्रवृत्ति तथा वास्तविक स्वाधीनता अर्थात् वस्तु अवस्था एवं परिस्थितियों से अतीत जीवन की अभिलाषा--ये दो बातें दिखाई देती हैं, जिन्हें भोग इच्छा कहते हैं। उनकी उत्पत्ति एक मात्र 'यह' को 'मैं' स्वीकार करने पर अथवा 'यह' को 'अपना' मानने पर होती है। यद्यपि 'यह' को 'मैं' मान लेना निज ज्ञान के विपरीत है फिर भी हम उस ज्ञान का अनादर कर के 'यह' से तद्रूप हो कर अपने को भोग-वासनाओं में आबद्ध कर लेते हैं, जो सभी दुःखों का मूल है। 'यह' को 'मैं' मान लेने पर ही 'यह' की सत्यता दृढ़ होती है और 'यह' को 'अपना' मान लेने पर 'यह' के प्रति प्रियता उत्पन्न

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होती है जो धीरे-धीरे कालान्तर में आसक्ति का रूप धारण कर लेती है। 'यह' की सत्यता और प्रियता में आबद्ध प्राणी अपने वास्तविक नित्य जीवन से विमुख हो जाता है। 'यह' के न रहने पर भी जो रहता है अथवा जब 'यह' नहीं था तब भी जो था एवं जिसके प्रकाश से 'यह' प्रकाशित है वही वास्तव में अपना नित्य अनन्त जीवन है। उस नित्य जीवन के अनुभव बिना किसी को भी चिर शान्ति एवं स्थायी प्रसन्नता नहीं मिल सकती—यह निर्विवाद सिद्ध है।

यदि प्राणी निज विवेक के प्रकाश में 'यह' को 'मैं' स्वीकार न करे और न 'यह' को 'अपना' माने तो स्वाभाविक ही निर्वासना आ जाती है, क्योंकि फिर सीमित अहंभाव शेष नहीं रहता और उससे अभिन्नता हो जाती है, जो भक्तों का भगवान्, तत्त्ववेत्ताओं का निज स्वरूप, योगियों का योग तथा सभी का सब कुछ है।

'यह' और 'मैं' का विभाजन 'है' से अभिन्न करने का उपाय है। जिस प्रकार हल्दी और चूना मिलने से लालिमा उत्पन्न होती है और दोनों के विभाजन से लालिमा मिट जाती है, उसी प्रकार 'यह' और 'मैं' के विभाजन से 'अहं' और 'मम' रूपी लालिमा सदा के लिए मिट जाती है और केवल अनन्त नित्य जीवन ही शेष रहता है जो वास्तव में मानव की माँग है।

भौतिकवादी 'मैं' और 'वह' को 'यह' में विलीन कर जड़ता में आबद्ध हो जाते हैं। आस्तिकवादी 'यह' और 'मैं' को 'वह' में विलीन कर दिव्य चिन्मय हो जाते हैं और अध्यात्मवादी 'यह' और 'वह' को 'मैं' में विलीन कर अभिन्न हो जाते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भौतिकवाद वासनाओं में आबद्ध करता है। आस्तिकवाद केवल प्रेम ही प्रेम शेष रखता है। अध्यात्मवाद अपने में ही सब कुछ पा लेता है।

भौतिकवाद देहाभिमान को पुष्ट करता है और कर्म-जाल में आबद्ध कर प्राणी को सुखी-दुःखी बनाता है। आस्तिकवाद प्राणी को सुख-दुःख से अतीत अखंड अनन्त रस प्रदान करता है और अध्यात्मवाद प्राणी को अखंड एक रस प्रदान करता है।

भौतिकवाद की पराकाष्ठा आस्तिकवाद अथवा अध्यात्मवाद को जन्म देती है।

भौतिकवाद में प्राणी तभी तक आबद्ध है, जब तक 'यह' का वास्तविक स्वरूप जान नहीं पाता अथवा यों कहो कि 'यह' से अतीत के जीवन पर विश्वास नहीं करता अथवा यों कहो कि 'यह' की दी हुई वस्तुएँ 'यह' को वापिस नहीं करता अर्थात् 'यह' का ऋणी रहता है।

सारी सृष्टि 'यह' के अर्थ में आ जाती है। शरीर संसाररूपी सागर का एक विन्दु मात्र है। अतः शरीररूपी विन्दु को संसाररूपी सागर की सेवा में लगा देना ही शरीर का सर्वोत्कृष्ट सदुपयोग है, कारण कि व्यक्तिगत जीवन समाज के अधिकारों का समूह मात्र है और कुछ नहीं। जब प्राणी समाज के अधिकारों को सुरक्षित रखते हुए अपने अधिकार को भूल जाता है, तब आस्तिकवाद और अध्यात्मवाद में उसका स्वतः प्रवेश हो जाता है और फिर बड़ी सुगमतापूर्वक 'यह' और 'मैं' का विभाजन हो जाता है। प्राणी अधिकार लोलुपता के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कारण ही 'यह' में आबद्ध हो गया है। यदि प्राप्त विवेक के प्रकाश में प्राणी उन सभी इच्छाओं का अन्त कर दे, जिनमें समाज का हित और प्रसन्नता निहित न हो तो बड़ी सुगमतापूर्वक उसका मन निर्विकल्प हो जाता है। मन के निर्विकल्प होते ही बुद्धि सम हो जाती है। बुद्धि के सम होते ही आवश्यक शक्ति का विकास होता है। फिर प्राणी अपनी स्वाभाविक लालसा को पूरा कर कृत-कृत्य हो जाता है। उसका जीवन निर्वासना, निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि गुणों से परिपूर्ण हो जाता है अथवा यों कहो कि वह अपना निर्माण कर लेता है। इस प्रकार व्यक्ति के निर्माण से स्वतः ही सुन्दर समाज का निर्माण होने लगता है। अतः अपने निरीक्षण द्वारा अपने को निर्दोष बनाना परम अनिवार्य है।

अपना निरीक्षण करने पर हमें यह भली-भाँति विदित हो जाता है कि प्राप्त शक्ति का सद्व्यय प्राणियों को स्वभाव से ही प्रिय है, कारण कि जब कोई हमारे साथ व्यवहार करता है यदि उसमें किसी प्रकार का दोष हो तब हम उसके उस व्यवहार को उचित नहीं मानते यद्यपि वही व्यवहार प्रमादवश हम स्वयं दूसरों के प्रति कर बैठते हैं।

मिथ्या, कटु और आवश्यकता से अधिक या कम बोलना किसी को प्रिय नहीं होता। हम यही आशा करते हैं कि हम से जो कोई बोले प्रिय, सत्य, हितकर और आवश्यकतानुसार बोले। बोलने के सम्बन्ध में इस प्रकार का ज्ञान हमें किसी ने सिखाया नहीं। यह हममें स्वयं विद्यमान है। बोलने की शक्ति का सद्व्यय करने पर वाणी में सत्यता आ जाती है। उसके शब्दों का प्रभाव स्वतः होने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लगता है। यहाँ तक कि उसके बोले हुए वाक्यों पर प्रकृति भी कार्य करने लगती है। ऐसा यथार्थ बोलने वालों का अनुभव है।

उसी प्रकार हमें प्रत्येक इन्द्रिय के व्यवहार पर निज ज्ञान के अनुरूप यथेष्ट दृष्टिपूर्वक चेष्टा करनी चाहिए, जिससे इन्द्रियों की शक्ति का दुर्व्यय न हो। पर,यह तभी सम्भव होगा जब मन में केवल वे ही संकल्प उत्पन्न हों जो शुद्ध हों और जिनका सम्बन्ध वर्त्तमान परिस्थिति से हो अर्थात् अनावश्यक और अशुद्ध संकल्पों के त्याग करने पर ही इन्द्रियों का व्यवहार शुद्ध हो सकेगा। उसका परिणाम यह होगा कि आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनाश्यक संकल्पों की निवृत्ति स्वतः हो जायगी अर्थात् मन में निर्विकल्पता आ जायगी। मन के निर्विकल्प होते ही मन के द्वारा जो शक्ति इन्द्रियों की ओर प्रवाहित होती थी वह बुध्दि की ओर आरोहित होकर बुद्धि में विलीन हो जायगी। फिर बुद्धि सम होकर उस अनन्त ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होगी। जिससे फिर वह मन इन्द्रिय आदि को शुद्ध प्रकाश देकर व्यवहार में सुन्दरता प्रदान कर सकेगी।

हमारी चेष्टाओं में दोष तभी आ जाते हैं जब बुद्धि के द्वारा मिले हुए वास्तविक प्रकाश का अनादर मन तथा इन्द्रियाँ करने लगती हैं और हम इन्द्रियों के उस कृत्य का समर्थन करते हैं जो बुद्धि के प्रकाश से रहित है। बस, यही भूल अपने निरीक्षण न करने से होती है। हमारी बुद्धि दूसरों का निरीक्षण करने में तो बड़ी ही कुशलता का परिचय देती है परन्तु उस कुशलता का उपयोग हमें अपने मन, इन्द्रिय आदि के निरीक्षण में करना चाहिए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हम जिनके साथ रहते हैं उनकी बात पर विश्वास न कर के अपना विश्वास खो बैठते हैं और फिर दुःखी हो कर कहने लगते हैं कि हमारी बात का कोई विश्वास ही नहीं करता। परस्पर में अविश्वास होने से बड़ी भयंकर उलझने उत्पन्न हो जाती हैं। जीवन कलह का केन्द्र बन जाता है। अपना असत्य सत्य और दूसरों का सत्य असत्य प्रतीत होने लगता है। और जीवन में खिन्नता, नीरसता, एवं उत्साहहीनता आदि अनेक विकार भर जाते हैं। इस भयंकर परिस्थिति का परिवर्त्तन करने के लिए हमें अपनी प्रत्येक चेष्टा द्वारा सत्यता, मधुरता, प्रियता, एवं हितचिन्तकता का परिचय देना चाहिए और अपने साथियों के असत् तथा कटुतापूर्ण व्यवहार की आलोचना न करते हुए उनकी इच्छानुसार जैसा वे कहें सुन लेना चाहिए, जिससे उन्हें विश्वास हो जाय कि हमारी बात सहर्ष सुन ली जाती है। कुछ ही दिन में हमारे साथी अपने स्वभाव को स्वतः बदलने लगेंगे। यद्यपि हमें किसी के असत्य का अनुसरण नहीं करना है तथापि अपने सत्य के समान ही उसका आदर अवश्य करना है; क्योंकि किसी के असत्य को असत्य कहने का हमें अधिकार ही नहीं है। यदि कोई अपने असत्य को सत्य प्रकाशित करता है तो हमें हर्षपूर्वक सुन लेना चाहिए। उसका अनादरपूर्वक कटुतापूर्ण उत्तर नहीं देना चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि उसका असत्य उसे स्वयं दीखने लगेगा और फिर वह बेचारा स्वतः ही विवश होकर असत्य का त्याग करने लगेगा; क्योंकि अनादर के भय से ही प्राणी असत्य को सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। हमारे आलोचक स्वभाव से हमारे साथ ही

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हमारे सत्य का अनादर और अपने असत्य का प्रतिपादन करने लगते हैं और इससे परस्पर संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। यदि हमें ठीक-ठीक सत्य का दर्शन हो गया है तो हमें चाहिए कि हम साथी के असत्य को असत्य न कह कर उसे सत्य को देखने की दृष्टि प्रदान करें जिससे वह स्वयं अपने असत्य को देख कर अपने को सत्यार्थी बनने के लिए तत्पर हो जाय।

अपना निरीक्षण करने में प्राणी जिन स्वाभाविक रुचियों को बनाए रखता है उन्हीं के अनुसार उसे सत्य का दर्शन मिलता है यद्यपि सत्य सभी रुचि-रंजित स्वभावों से अतीत है; क्योंकि प्रत्येक रुचि किसी न किसी परिच्छिन्नता के अभिमान पर ही जीवित है, तथापि असत्य को प्रकाशित करने में भी सत्य ही समर्थ है।

आत्म-निरीक्षण करने से हमें यह भी प्रकाश मिलता है कि न्याय और प्रेम से ही परस्पर में एकता, प्रियता एवं मधुरता सुरक्षित रह सकती है। पर न्याय अपने प्रति और प्रेम अन्य के प्रति करना होगा। अपने पर न्याय करने से निर्दोषता आ जाती है और दूसरों के प्रति प्रेम करने से स्नेह की एकता एवं स्वरूप की अभिन्नता का अनुभव होने लगता है। न्याय का वास्तविक अर्थ है-बल का सदुपयोग तथा प्रेम का वास्तविक अर्थ है-अपने अधिकार को भूल कर दूसरे के अधिकारों की रक्षा करते हुए बुराई का उत्तर भलाई से देने में प्रसन्नता का अनुभव करना। कारण कि प्रेम किसी प्रकार का भेद तथा दूरी नहीं रहने देता। वास्तविक एकता का अनुभव हो जाने पर प्राणी बड़ी ही सुगमता से बुराई का उत्तर भलाई से दे सकता है। जिस प्रकार

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दाँतों से यदि जीभ कट जाती है तो वह कभी उन्हें तोड़ने की बात नहीं सोचती। इतना ही नहीं यदि दाँतों में कुछ फँस गया हो तो उसे निकालने के लिए ही प्रयत्न करती है।

आत्म-निरीक्षण से हमें यह भी प्रकश मिलता है कि सुख का वितरण करने के लिए और दुःख को अपनाने के लिए सभी के साथ एकता स्थापित करनी चाहिए जब कि हम अपना दुःख मिटाने के लिए अपने से अधिक सुखियों की ओर आशा लगाए रहते हैं, पर प्राप्त सुख द्वारा अपने से अधिक दुखियों की आशा पूरी करने में हिचकते हैं–जो प्रमाद है। इस प्रमाद के मिटाने के लिए विवेक का आदर करना ही महामंत्र है। सीखे हुए ज्ञान का नाम विवेक नहीं है। वह तो केवल मस्तिष्क का संग्रह है। अपने अनुभूत ज्ञान का नाम ही विवेक है।

अपना निरीक्षण करने पर यह भी अनुभव होता है कि प्रवृत्ति के अन्त में निवृत्ति और निवृत्ति के अन्त में प्रवृत्ति स्वतः होने लगती है, पर राग-युक्त प्रवृत्ति प्रमादवश वासनाओं के जाल में आबद्ध करती है, जिससे प्राणी अनेक ऊँच-नीच योनियों को प्राप्त हो कर अनेक प्रकार के सुख दुःख भोगता है अर्थात् आनन्द से विमुख हो जाता है। यद्यपि आनन्द से जातीय तथा स्वरूप की एकता है और सुख-दुःख से केवल मानी हुई एकता है। कामना की उत्पत्ति में दुख और पूर्ति में सुख प्रतीत होता है। कामनाओं की उत्पत्ति का मूल कारण शरीर से एकता स्वीकार करना है जो वास्तव में भूल है; क्योंकि जिसे अपने से भिन्न जानते हैं उसे अपना स्वरूप मान लेना अर्थात् उससे आत्मीयता स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जिस विवेक से प्रमाद को प्रमाद जानते हैं, उसी विवेक से प्रमाद का अन्त हो सकता है, अर्थात् जब विवेक द्वारा स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीरों से असंगत होते ही निर्वासना आ जाती है, वासनाओं का अन्त होने पर राग त्याग में बदल जाता है और जब प्रेमास्पद के नाते स्वार्थ-रहित सर्व हितकारी प्रवृत्ति केवल प्रेमास्पद की प्रसन्नतार्थ ही होने लगती है, तब प्रेमी को सभी में अपने प्रियतम का दर्शन होने लगता है, अर्थात् यह जो कुछ है उसमें अपना प्रियतम ही है और कुछ नहीं। परन्तु, वासना रहित निवृत्ति आ जाने पर प्रेमास्पद से भिन्न और कभी कुछ हुआ ही नहीं ऐसा बोध स्वतः होता है। फिर शरीर द्वारा होने वाली प्रवृत्तियाँ स्वतः स्वार्थ-रहित सर्व-हितकारी सद्भावना से प्रेरित होने लगती है। स्वार्थ-रहित सर्वहित-कारी प्रवृत्ति वास्तव में निवृत्ति के ही समान है; क्योंकि वह समाज के अधिकारों को सुरक्षित रखती है और उसके बदले कुछ भी लेने की रुचि शेष नहीं रहने देती, स्वार्थ-रहित होते ही किसी प्रकार का उपभोग शेष नहीं रहता और उपभोग का अन्त होते ही प्राणी अपने में ही अपने परम प्रेमास्पद का अनुभव कर कृत-कृत्य हो जाता है। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि वासना-रहित निवृत्ति और सर्वहितकारी प्रवृत्ति दोनों ही आदरणीय तथा अनुसरणीय हैं।

सर्व हितकारी प्रवृत्ति और वासना-रहित निवृत्ति ही मानव जीवन की दो मुख्य साधनाएँ हैं। जीवन इन दोनों भागों में ही विभाजित होना चाहिए। ये दोनों साधनाएँ जिस एक के प्रकाश से प्रकाशित होती हैं, वही एक सभी का सब कुछ है और उससे सभी की अभिन्नता हो सकती है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वासनायुक्त निवृत्ति और स्वार्थयुक्त प्रवृत्ति तो सर्वथा निन्दनीय है; क्योंकि वासनायुक्त निवृत्ति प्राणी को मिथ्याचारी और स्वार्थयुक्त प्रवृत्ति उसे विषयासक्त बना देती है। वासना-रहित निवृत्ति भेद से अभेद की ओर और स्वार्थ रहित प्रवृत्ति भिन्नता से अभिन्नता की ओर प्रेरित करती है। अभिन्नता स्वार्थ को खा कर साधक को साध्य से एक कर देती है। इसी प्रकार वासना रहित निवृत्ति देहाभिमान को खा कर साधक को अपने लक्ष्य में प्रतिष्ठित कर अभेद कर देती है और फिर किसी प्रकार का अभाव शेष नहीं रहता अर्थात् 'यह' (संसार) 'वह' (परमात्मा) और 'मैं' तीनों की वास्तविक एकता हो जाती है।

अपना निरीक्षण करने पर यह भी ज्ञात होता है कि प्राप्त के अनादर और अप्राप्त के चिन्तन से प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग ही होता है। वर्त्तमान का आदरपूर्वक सदुपयोग न करने से आगे-पीछे का व्यर्थ चिन्तन होने लगता है, जिससे सार्थक चिन्तन उत्पन्न ही नहीं हो पाता और सार्थक चिन्तन के बिना उसकी ओर प्रगति ही नहीं हो सकती जो एक मात्र स्मरण, चिन्तन एवं ध्यान से ही प्राप्त होता है। प्राणी उस समय तक किसी न किसी चिन्तन में लगा ही रहता है, जब तक उस अनन्त जीवन को प्राप्त नहीं कर लेता जो सभी अवस्थाओं, वस्तुओं एवं परिस्थितियों से अतीत है। उसका अनुभव करने के लिए तो हमें सब प्रकार के चिन्तन से रहित होना ही होगा। जिस प्रकार स्वार्थ-भाव मिटाने के लिए सेवा-भाव अनिवार्य है, उसी प्रकार व्यर्थ चिन्तन मिटाने के लिए सार्थक चिन्तन भी परमावश्यक है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जब तक अप्राप्त परिस्थिति से निराश होकर प्राप्त परिस्थिति का सदु-पयोग न किया जाय, तब तक व्यर्थ चिन्तन का होना स्वाभाविक ही है। प्राप्त परिस्थिति ही सर्वोत्कृष्ट साधन सामग्री है--ऐसा मानने या जानने से ही प्राणी अप्राप्त परिस्थिति से निराश हो सकता है; क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय तथा साधन-सामग्री है और कुछ नहीं। साधन में साध्य तथा जीवन बुद्धि-मूल है। साधक साधन द्वारा ही साध्य से अभिन्न होता है। अतः प्रत्येक साधक को सभी परिस्थितियों से अनन्त नित्य जीवन को प्राप्त करने के लिए प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना अनिवार्य है। यह तभी सम्भव होगा जब परिस्थिति को साधन और परिस्थितियों से अतीत नित्य दिव्य चिन्मय जीवन को लक्ष्य तथा साध्य जाने।

अपने निरीक्षण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक परि-स्थिति अपूर्ण है। किसी की अपेक्षा कोई भले ही ऊँची या नीची प्रतीत होती हो पर वास्तव में तो सभी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं, कारण कि अपने से अधिक सुखमय तथा अधिक दुःखमय परि-स्थिति का भास प्रत्येक परिस्थिति में होता है। प्राणी अपने से दुखियों को देख कर अपने को सुखी और सुखियों को देख कर दुःखी मान लेता है। अथवा यों कहो कि अप्राप्त काल में ही परिस्थिति की सत्यता और सुन्दरता प्राणी को आकर्षित करती है। प्राप्त होने पर उसमें वैसा आकर्षण नहीं रहता फिर तो स्वाभाविक उससे भी आगे बढ़ने की रुचि उत्पन्न हो जाती है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि हमें उसी को प्राप्त करना है जो सभी परिस्थितियों से

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अतीत है। उसको प्राप्त करने के लिए किसी परिस्थिति विशेष की आवश्यकता नहीं है प्रत्युत् प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा अपने को उससे असंग—और अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन से रहित करना है। परिस्थिति के चिन्तन से रहित होने पर स्वतः ही आस्तिकों (भक्तों) में भगवत् चिन्तन और जिज्ञासुओं में तत्त्व चिन्तन होता है, जो व्यर्थ चिन्तन को खा कर उन्हें क्रमशः शरणागति और अचिन्त्यता प्रदान करता है। फिर प्राणी बड़ी सुगमता से अपने लक्ष्य को प्राप्त कर कृत-कृत्य हो जाता है।

अपने निरीक्षण से यह भी विदित होता है कि साम्य के बिना शान्ति नहीं, पर वास्तविक साम्य किसी परिस्थिति विशेष में नहीं प्रत्युत् सभी परिस्थितियों से अतीत में अथवा अपने-अपने स्थान पर ठीक बने रहने में ही है। सभी परिस्थितियों से अतीत जो साम्य है, वह सब रूप से नित्य तथा अनन्त है और अपने अपने स्थान पर ठीक बने रहने में जो साम्य है वह एक दूसरे के पारस्परिक अधिकारों को सुरक्षित रखते हुए प्रीति की एकता रखता है। यह तभी सम्भव है जब व्यक्तिगत जीवन सामाजिक अधिकारों का समूह बन जाय और समाज ही व्यक्तिगत जीवन हो। पर ऐसा तभी ह सकेगा जब मानव कर्त्तव्य को ही अपना अधिकार मान कर अधिकार लालसा से रहित होकर अचिन्त हो जाय।

यह भी सभी का अनुभव है कि प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में शक्ति-हीनता, जड़ता, एवं पराधीनता आदि निर्बलताएँ आ जाती हैं और निवृत्ति आ जाने पर स्वाभाविक ही स्वतः शक्ति का संचय हो जाता है, अर्थात् प्रवृत्ति से उत्पन्न हुई निर्बलताएँ मिट जाती हैं। इससे यह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निर्विवाद सिद्ध है कि प्रत्येक प्रवृत्ति शक्ति का व्यय और प्रत्येक निवृत्ति शक्ति का संचय कराने में समर्थ है। यदि प्राणी प्रवृत्ति के दोषों से दुखी होने पर उसकी वासना से रहित हो स्वतः प्राप्त निवृत्ति को अपना कर अचिन्त हो जाय तो भोगयोग में, राग वैराग्य में पराधीनता स्वाधीनता में तथा जड़ता चिन्मयता में परिणत हो जाती है और फिर जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है उससे अभिन्नता और जिससे केवल मानी हुई एकता है उनसे भिन्नता हो जाती है, अर्थात् किसी प्रकार की विषमता एवं खिन्नता शेष नहीं रहती और यह भली-भाँति अनुभव हो जाता है कि प्रत्येक प्रवृत्ति केवल छिपे हुए राग की वास्तविकता का परिचय कराती है और निवृत्ति द्वारा प्रवृत्तियों का अन्त कर प्रवृत्ति और निवृत्ति से अतीत अनन्त नित्य जीवन का पाठ पढ़ाती है। बस, यही आध्यात्मिक तथा आस्तिक जीवन है। अतएव अपने निरीक्षण द्वारा प्राणी बड़ी ही सुगमता-पूर्वक आध्यात्मिक उत्थान तथा आस्तिक जीवन का अनुभव कर कृत-कृत्य हो सकता है।

दूसरा नियम

(२) की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।

जब अपने निरीक्षण से हम अपने बनाए हुए दोषों को देख लेते हैं, तब उनको मिटाने के लिए प्रायश्चित्त तथा व्रत एवं तप और प्रार्थना करना अनिवार्य हो जाता है, कारण कि प्रायश्चित्त के बिना भूल को न दोहराने का संकल्प दृढ़ नहीं रह सकता और व्रत के बिना भूल का

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पुनः उत्पन्न न होना तथा निर्दोषता की प्राप्ति सम्भव नहीं है ए
प्रार्थना के बिना व्रत को पूरा करने की शक्ति तथा निराभिमान
सम्भव नहीं है।

प्रार्थना रहित तप में सीमित अहंभाव की दृढ़ता होती है
साधक को गुणों के अभिमान में आबद्ध कर देती है। गुणों
अभिमान वास्तव में दोषों का मूल है। अतः व्रत के पालन करने
जो कठिनाइयाँ आएँ उनको तप जान कर सहर्ष सहन कर लिया जा
और आवश्यक-शक्ति तथा निराभिमानता के लिए सरल विश्वासपूर्व
प्रार्थना की जाय तो दोषों की निवृत्ति और निर्दोषता की प्राप्ति स्व
हो जायगी, यह बात निर्विवाद सिद्ध है। निराभिमानता
वास्तविक अर्थ यह है कि गुणों का संग न हो और दोषों की उत्पत्ति
न हो।

भूल को भूल जान लेने पर जो वेदना उत्पन्न होती है, वही साध
के मन में प्रायश्चित्त करने की भावना जागृत करती है। जो भूल
चुकी है उसको न दोहराया जाय, यही वास्तव में सर्वोत्कृ
प्रायश्चित्त है, किन्तु उस प्रायश्चित्त को सजीव तथा सफल बनाने
लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि भूल द्वारा जिस सुख का उपभो
किया है उसे दुःख में बदलने के लिए तथा सुखासक्ति से रहित हो
के लिए किसी न किसी ऐसे तप को अपना लिया जाय, जिससे पु
भूल न करने की दृढ़ता आ जाय, असावधानी मिट जाय, हृदय
दुर्बलता का अन्त हो जाय और पुनः उस प्रकार के सुख की आशा
न हो कि जिसके राग से प्रेरित हो कर भूल की थी; क्योंकि सुख

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आशा से प्रेरित हो कर ही प्राणी भूल द्वारा उत्पन्न होने वाले सुख का उपभोग करता है, और अविवेक जन्य चित्त की अशुद्धि से ही सुख भोग में प्रवृत्ति होती है, जैसे कि लोभ के दोष से धन के उपभोग की लालसा तथा हानि का भय मोह के दोष से संयोग की दासता तथा वियोग का भय, अभिमान के दोष से मान की लालसा तथा अपमान का भय, और काम के दोष से कामना-पूर्त्ति की दासता तथा अभाव का भय उत्पन्न होता है।

प्रायश्चित्त के द्वारा चित्त शुद्ध हो जाने पर भोगासक्ति अर्थात् सुख लोलुपता मिट जाती है। सुख लोलुपता के मिट जाने पर दुःख जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहती, क्योंकि कोई ऐसा दुःख है ही नहीं कि जिस का जन्म किसी न किसी प्रकार के सुख-भोग से न हो।

सुख दुःख का अभाव होते ही हृदय में आनन्द की गङ्गा स्वतः लहराने लगती है। प्रायश्चित्त करने पर व्रती जीवन का आरम्भ होता है। व्रती जीवन से ही निर्दोष होने की लालसा सबल तथा स्थायी होती है जो भूल को उत्पन्न ही नहीं होने देती और असंयम एवं असावधानी को खा कर सतत् जागृत्ति प्रदान करती है, जिससे प्राणी साधन-युक्त जीवन द्वारा लक्ष्य की ओर प्रगतिशील होता है और बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को सहर्ष सहन कर लेता है—यही वास्तव में तप है। तप से आवश्यक शक्ति का विकास अपने आप होता है और सभी निर्बलताएँ मिटने लगती हैं।

व्रतयुक्त जीवन को सुरक्षित रखने के लिए आस्तिक सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना का और भौतिकवादी तपश्चर्या का आश्रय लेता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रार्थना से निराभिमानता एवं निर्भयता आती है और तप
निर्बलता मिट जाती है। निराभिमानता आने पर अहंभाव शेष न
रहता और निर्बलता मिटने पर आवश्यक बल प्राप्त होता है
ज्यों-ज्यों प्राणी प्राप्त बल का सदुपयोग करता जाता है, त्यों-त्यों आव
श्यक बल स्वतः मिलता जाता है। पर, जब बल का उपयोग उपभो
में होने लगता है, तब अनेकों प्रकार की निर्बलताएँ स्वतः आ
लगती हैं। बल का सदुपयोग निर्बलों की सेवा में है
निर्बलों की सेवा करते-करते हृदय शुद्ध होने लगता है
हृदय शुद्ध होते ही सत्य की खोज तथा परम व्याकुलता स्वतः जागृ
हो जाती है, जो अहंभाव को खा कर साधक को वह नित्य जीव
प्रदान करती है जो सभी परिस्थितियों से अतीत है। इस जीवन
तपी और प्रार्थी दोनों ही समान हो जाते हैं। तपी बल को अप
तप का फल मानता है और प्रार्थी उसे प्रभु की देन जानता है। यद्य
कोई भी बल किसी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति नहीं है, प्रत्युत खो
है, जो है उसी से सब कुछ मिलता है। प्राणी भिन्न-भिन्न प्रकार
उपचारों द्वारा "है" की खोज करता है। "है" किसी की उपज न
है प्रत्युत खोज है, पर इस रहस्य को कोई विरले तत्त्वदर्शी
जानते हैं।

प्रार्थना, व्यथित हृदय की पुकार तथा निर्बल का बल ए
आस्तिक का जीवन है। लक्ष्य की आवश्यकता का अनुभव करना ह
वास्तव में प्रार्थना है। इस दृष्टि से प्राणी-मात्र प्रार्थना करता है
अन्तर केवल इतना है कि आस्तिक केवल एक से और नास्ति
अनेकों से प्रार्थना करता है। आस्तिक की प्रार्थना सेवा करने के लि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और नास्तिक की प्रार्थना उपभोग के लिए होती है। आस्तिक प्रार्थना द्वारा मिले हुए बल को अपना नहीं मानता प्रत्युत निर्बलों का अधिकार मानता है और नास्तिक प्राप्त बल को अपनी निजी सम्पत्ति मान कर दीनता तथा अभिमान आदि विकारों में आबद्ध हो जाता है जो दुःख का मूल है। "है" को स्वीकार न करना और जो नहीं है उसी पर विश्वास करना नास्तिकता है। 'नहीं' को 'नहीं' जान कर "है" के लिए परम व्याकुल होना आस्तिकता है। "है" में अभिन्न होने पर 'नहीं' जैसी कोई वस्तु ही शेष नहीं रहती और फिर सब प्रकार के अभावों का अभाव हो जाता है। अभावों की वेदना 'नहीं' से विमुख कर, 'है' की ओर गतिशील करती है। जिसमें प्रवृत्ति तो हो किन्तु प्राप्ति न हो उसी को 'नहीं' समझना चाहिए और स्वाभाविक निवृत्ति आ जाने पर जिसकी स्वतः सिद्ध प्राप्ति हो उसी को 'है' जानना चाहिए।

प्राप्त शक्ति का सद्व्यय करने पर ही प्रार्थना करने का अधिकार मिलता है। शक्ति का संग्रह तथा अपव्यय करने पर की हुई प्रार्थना सफल नहीं होती; क्योंकि वह तो अनाधिकार चेष्टा है। अथवा यों कहो कि प्रार्थना वास्तव में सच्चाई की भूख है और कुछ नहीं। अतः ज्यों-ज्यों सत्य की खोज तथा उसकी अभिलाषा सबल होती जाती है त्यों-त्यों प्रार्थना प्रार्थी का जीवन बनती जाती है और जब तक प्रार्थना प्रार्थी तथा जिससे प्रार्थना की जाती है वे तीनों एक नहीं हो जाते, तब तक प्रार्थना होती ही रहती है।

इस दृष्टि से प्रार्थना मानव-जीवन का आवश्यक अङ्ग है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रतिकूल परिस्थितियों में प्रार्थना से ही नित्य नव उत्साह की वृद्धि होती है और अनुकूल परिस्थितिओं में उससे प्राप्त शक्ति का सदूव्यय करने की क्षमता प्राप्त होती है। अतः प्रत्येक अवस्था में प्रार्थना से प्राणी का हित ही होता है।

प्रार्थना असमर्थ का अन्तिम प्रयास, सफलता का अचूक अस्त्र तथा आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करने वाला महामंत्र है अथवा यों कहो कि यह दुखियों की वास्तविक साधना है। प्रार्थना प्रत्येक परिस्थिति में सुगमतापूर्वक हो सकती है; क्योंकि उसके लिए किसी अन्य साधन-सामग्री की अपेक्षा नहीं है। इस दृष्टि से प्रार्थना प्राणी-मात्र की सहज साधना है।

प्रार्थना के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जाय कम है, क्योंकि यह निराशा को आशा में, निर्बलता को बल में और असफलता को सफलता में परिवर्तित कर प्राणी को उसका अभिष्ट प्राप्त कराने में समर्थ है।

तीसरा नियम

(३) विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।

मानव-मात्र में विश्वास तथा विचार की शक्ति स्वभावतः विद्यमान है, कारण कि ऐसा कोई मानव नहीं है जिसका किसी न किसी पर विश्वास न हो और कुछ न कुछ जानता न हो, पर दोनों का यथेष्ट उपयोग वे ही कर पाते हैं जिनका जीवन साधन-युक्त है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विश्वास एकता प्रदान करता है और विचार निर्दोषता। अतः अपने को निर्दोष बनाने के लिए विचार की और जिनसे भिन्नता प्रतीत होती है उनसे एकता स्थापित करने के लिए विश्वास की अत्यन्त आवश्यकता है। विचार अर्थात् निज ज्ञान का प्रकाश अपने दोषों का दर्शन कराता है तथा उनको मिटाने का उपाय प्रदर्शित करता है, कारण कि विचार से न्याय की स्थापना होती है। न्याय वही सार्थक होता है जो अपने पर किया जाय, क्योंकि अपना दोष-दर्शन जितनी स्पष्टता से प्रत्यक्ष होता है उतना अन्य का नहीं। न्याय कोई अनिष्टकर विधान नहीं है, प्रत्युत अपने सुधार का वास्तविक साधन है।

यदि प्राणी न्यायपूर्वक अपना सुधार स्वयं कर ले तो फिर उसे राष्ट्रीय समाज तथा प्राकृतिक न्याय एवं दंड-विधान की आवश्यकता ही नहीं होगी अर्थात् वह दूसरों के शासन से सदा के लिए मुक्त हो जायगा। कारण कि शासन की आवश्यकता का उदय ही तब होता है, जब प्राणी अपने पर अपने विवेक का शासन नहीं करता। वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए अपने पर अपना शासन अर्थात् नेतृत्व एवं न्याय करना परम अनिवार्य है, जो निर्दोष बनाने में समर्थ है। हमें यही सीखना और सिखाना है कि जिन-जिन से जितनी-जितनी निकटता हो उनके प्रति उतना ही कठोर न्याय वर्तना चाहिए। इस दृष्टि से सब से कठोर न्याय हमें अपने मन, इन्द्रिय आदि के प्रति करना चाहिए और ज्यों-ज्यों किसी न किसी प्रकार की दूरी होती जाय, त्यों-त्यों न्याय को प्रेम तथा क्षमा में बदलते जाना चाहिए। निकटवर्तियों का सुधार न्याय से और दूरवर्तियों का सुधार प्रेम तथा क्षमा से ही सम्भव है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

संयम, तप, उदासीनता, नियंत्रण, असहयोग उपेक्षा आदि न्याय के ही अङ्ग हैं। इनके प्रयोग बिना निकटवर्तियों का हित सम्भव नहीं है। न्याय में सर्वदा हित कामना विद्यमान् रहती है, द्वेष नहीं। लालच तथा भय रहित होने पर ही प्राणी न्याय के वास्तविक स्वरूप को जान पाता है और उसका प्रयोग कर सकता है। न्याय में दुराग्रह, क्रोध आदि विकारों के लिए कोई स्थान ही नहीं है, कारण कि क्रोध की उत्पत्ति अपनी कामना-पूर्ति के लिए होती है और न्याय में जिसके प्रति न्याय किया जाता है उसके हित की लालसा रहती है। न्याय में सत्याग्रह होता है, दुराग्रह नहीं, क्योंकि न्याय का जन्म विचार से होता है। प्रमाद से नहीं। सत्याग्रह असत्य को खाकर सत्य से अभिन्न करता है। इस दृष्टि से सत्याग्रह आदरणीय और दुराग्रह निन्दनीय है। न्याय किसी का ऋणी नहीं रहने देता। न्याय अपने को क्षमा नहीं करता। न्याय बल का दुरुपयोग नहीं होने देता। न्याय निर्बल को सबल और बलवान को उदार बनाने में समर्थ है। न्याय बलपूर्वक अन्याय मिटाने का पक्षपाती है अर्थात् असंयमी को संयमी, संग्रही को उदार, स्वार्थी को प्रार्थी और हिंसक को अहिंसक होने की प्रेरणा देता है। न्यायपूर्वक बल का उपयोग करने से किसी का विनाश नहीं होता और न किसी के अधिकारों का अपहरण होता है। न्याय प्रेम तथा क्षमा का पोषक है विरोधी नहीं। न्याय विभाजनपूर्वक एकता का समर्थक है अर्थात् उसकी मांग है कि अपने २ स्थान पर सभी के अधिकार सुरक्षित रहें सभी के विकास के साधन प्रस्तुत हों और कर्त्तव्य परायणता को ही प्राणी अपने वास्तविक अधिकार माने, कारण कि अधिकार तो कर्त्तव्य

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

का ही दास है। किसी और की उदारता से किसी के अधिकार की रक्षा स्थायी रूप से सुरक्षित नहीं रह सकती। अतः अपने पर स्वयं न्याय करके कर्त्तव्य द्वारा दूसरे के अधिकार की रक्षा को ही अपना अधिकार मानना चाहिए। दूसरे के अधिकारों की रक्षा को ही अपना अधिकार मानना वास्तव में प्रेम है। अतः प्रेम भिन्नता को अभिन्नता में, क्रोध को क्षमा में, संकीर्णता को व्यापकता में तथा कृपणता को उदारता में परिवर्तित कर देता है और फिर बाह्य भाषा, वेष, वर्ण और कर्म आदि के भेद रहने पर भी प्रीति की एकता सुरक्षित रहती है; क्योंकि प्रेम नित नव प्रीति का पोषक तथा रक्षक है। प्रेम की उत्पत्ति सरल विश्वास अथवा यथार्थ ज्ञान से होती है। जिसे हम अपना मान लेते हैं उससे स्वतः ही प्रेम होने लगता है और इस प्रकार जिसे हम सब प्रकार से जान लेते हैं उससे भी अपने आप प्रेम हो जाता है। अधूरा विश्वास तथा सन्देहयुक्त ज्ञान प्रेम का विनाशक है। प्रेम के बिना नित नव रस की उपलब्धि सम्भव नहीं है। रस रहित जीवन निरर्थक जीवन है। रस से ही जीवन की सार्थकता है। रस-युक्त जीवन किसी के लिए भी दुःखद सिद्ध नहीं होता; क्योंकि स्वयं खिन्न होने पर ही प्राणी दूसरों को दुःखी करता है। जिसका हृदय रस तथा प्रसन्नता से भरा है उसी से समाज को प्रसन्नता प्राप्त हो सकती है। प्रसन्नता सदा उसी हृदय में निवास करती है जिसका हृदय प्रेम तथा क्षमा से भरपूर है। क्षमा माँगने से निर्दोषता और क्षमा करने से निर्वैरता स्वतः आ जाती है। वैरभाव से रहित हृदय में ही प्रीति की गंगा लहराती है। अपने प्रति किए हुए अपराधों को क्षमा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करना और अपने द्वारा होने वाले अपराधों के लिए क्षमा माँगना महान् बल है, निर्बलता नहीं। क्षमा माँगने का वास्तविक अर्थ है कि जिस अपराध के लिए क्षमा प्रार्थना की गई है उस अपराध को फिर कभी किसी के प्रति न किया जाय और क्षमा करने का तात्पर्य यह है कि अपने प्रति होने वाली बुराई को सदा के लिए भुला दिया जाय एवं हृदय निर्वैरता तथा प्रीति से भर जाय।

निर्वैरता के बिना परस्पर का संघर्ष मिट नहीं सकता और निर्वैरता क्षमाशीलता तथा प्रेम के बिना सम्भव नहीं है। केवल बल के प्रयोग द्वारा संघर्ष कुछ काल के लिए दब सा जाता है, मिटता नहीं। बल तो निर्बलों का अधिकार है और कुछ नहीं, अर्थात् बल के द्वारा निर्बलों के विकास और रक्षा के साधन उत्पन्न किए जा सकते हैं। बल का उपयोग किसी के विनाश में करना अपने को निर्बल बनाना है, क्योंकि इससे प्रतिहिंसा की भावना जागृत होती है, जिससे कालान्तर में घोर संघर्ष उत्पन्न होता है।

अपने को निर्दोष बनाने तथा परस्पर प्रीति की एकता का संचार एवं संघर्ष का उन्मूलन करने के लिए अपने प्रति न्याय और दूसरों के प्रति प्रेम एवं क्षमा का प्रयोग करना अनिवार्य है।

चौथा नियम

जितेन्द्रियता, सेवा, भगवच्चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।

अपना निर्माण करने अर्थात् अपने को सुन्दर बनाने के लिए

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इद्रिय लोलुपता से जितेन्द्रियता, स्वार्थ से सेवा, विषय-चिन्तन तथा व्यर्थ चिन्तन से भगवच्चिन्तन एवं सार्थक चिन्तन की ओर और असत्य से सत्य की ओर गतिशील होना नितान्त अनिवार्य है—कारण कि जब तक प्राणी अपने पर अपना शासन नहीं कर लेता, अपनी बनाई हुई पराधीनताओं से स्वाधीन नहीं हो जाता, निरर्थक चिन्तन और चेष्टाओं से रहित नहीं होता, अपने को सहृदय तथा उदार नहीं बना लेता तथा सत्य के प्रति प्रियता नहीं उत्पन्न कर लेता, तब तक वह अपने को सुन्दर नहीं बना सकता--यह निर्विवाद सिद्ध है।

इन्द्रिय लोलुपता परिवर्त्तनशील सुख की ओर और जितेन्द्रियता हित की ओर प्रेरित करती है। सुख और हित में एक बड़ा अन्तर यह है कि सुख के भोगी पर वस्तुओं तथा व्यक्तियों का शासन होने लगता है अर्थात् उसकी स्वाधीनता पराधीनता में बदल जाती है। इतना ही नहीं उसमें शक्तिहीनता एवं हृदय-हीनता आदि अनेकों निर्बलताएँ अपने आप आ जाती हैं। इसके विपरीत हित को अपनाने पर पराधीनता स्वाधीनता में, हृदयहीनता सहृदयता में एवं निर्बलता सबलता में बदल जाती है, क्योंकि हित 'पर' से 'स्व' की ओर प्रेरित करता है। हित अभिलाषी प्राणी 'यह' से 'मैं' की ओर बढ़ता है अर्थात् वह दृश्य से विमुख होकर द्रष्टा में प्रतिष्ठित हो जाता है और फिर विषय इन्द्रियों में, इन्द्रियाँ मन में, मन बुद्धि में और बुद्धि जो उससे अतीत है उसमें लीन हो जाती है। बुद्धि के सम होने पर मन में निर्विकल्पता आ जाती है और फिर इन्द्रियाँ विषय-विमुख होकर अपने आधार मन से अभिन्न हो जाती हैं--बस यही जितेन्द्रियता का वास्तविक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्वरूप है। जितेन्द्रियता प्राप्त होते ही शक्तिहीनता और पराधीनता शेष नहीं रहती, कारण कि इन्द्रिय जय से आवश्यक शक्ति का विकास स्वतः होने लगता है। पर जब तक स्वार्थभाव मिट नहीं जाता, तब तक इन्द्रियजय करने में तत्परता नहीं होती। विषयासक्त प्राणी केवल अपने क्षणिक सुख पर ही दृष्टि रखता है जो इन्द्रिय लोलुपता का मूल है। स्वार्थ भाव मिटाने के लिए सेवा-भाव अपना लेना सर्वथा अनिवार्य है; क्योंकि सेवा स्वार्थ को खा कर सेव्य से अभिन्न कर देती है। प्राप्त सुख को दुखियों को समर्पण करना ही वास्तव में सेवा है। सेवा के बिना सुखासक्ति कदापि नहीं मिट सकती। सुखासक्ति का अन्त बिना किए कोई भी प्राणी जड़ता से चेतनता की ओर गतिशील नहीं हो सकता। भौतिकवादी विश्व के नाते, ईश्वरवादी ईश्वर के नाते और अध्यात्मवादी निजस्वरूप के नाते सेवा करता है। विश्व के नाते सेवा करने पर निर्वासना नहीं आती, कारण कि उस वेचारे को अपने लिए भी विश्व का ही आश्रय लेना पड़ता है, अर्थात् थोड़ा लेकर अधिक देना ही भौतिकवादी की उदारता की पराकाष्ठा है। स्वरूप की एकता के कारण अध्यात्मवादी अपने में ही विश्व को और विश्व में अपने को जानता है। अतएव, जिसको जो कुछ देता है उसको उसी की वस्तु मानता है--अथवा यों कहो कि उसे अपने से भिन्न का अनुभव ही नहीं होता। ईश्वरवादी प्रत्येक वस्तु ईश्वर की जानता है और जिनकी सेवा करता है उनको भी ईश्वर का ही मानता है। इसलिए वह सेवा के अन्त में विषय-चिन्तन से मुक्त हो कर भगवच्चिन्तन में लग जाता है। ज्यों-ज्यों भगवच्चिन्तन सबल तथा स्थायी होता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जाता है त्यों-त्यों अचिन्तता अपने आप आती जाती है। सब प्रकार के चिन्तन से रहित होते ही अहंभाव गल जाता है और फिर केवल प्रेम ही प्रेम शेष रहता है। यही भगवच्चिन्तन का वास्तविक स्वरूप है।

जिससे असत्य को जानते हैं, वही सत्य है। असत्य से विमुख होने पर सत्य से अभिन्नता स्वतः हो जाती है। असत्य से विमुख होने के लिए भोग को योग में परिवर्तित करना अनिवार्य हो जाता है। भोग को योग में परिवर्तित करने के लिए स्वार्थ को सेवा में बदलना अनिवार्य है और स्वार्थ को सेवा में बदलने के लिए इन्द्रिय-जय अत्यन्त आवश्यक है।

सारांश यह है कि सन्देह की वेदना सत्य की खोज जागृत करती है। सरल विश्वास भगवच्चिन्तन में प्रवृत्त करता है, हृदयशीलता सेवा को सजीव बनाती है और स्वाधीनता की माँग जितेन्द्रियता के लिए विवश करती है।

पाँचवाँ नियम

दूसरों के कर्त्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानना।

यद्यपि किसी का कर्त्तव्य ही किसी का अधिकार और किसी का अधिकार ही किसी का कर्तव्य होता है, पर दूसरे के कर्तव्य को

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अपना अधिकार मान लेने पर अधिकार लालसा की वृद्धि हो जाती है। यदि किसी कारण उसकी पूर्त्ति न हुई तो क्षोभ तथा, क्रोध आदि विकार उत्पन्न होने लगते हैं, जिससे साधन द्वारा निर्मित सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि दूसरे के कर्त्तव्य को अपना अधिकार मानना उचित नहीं है, पर दूसरे के अधिकार को अपना कर्तव्य मानना तो सर्वथा अनिवार्य है; क्योंकि कर्तव्य परायणता से उत्तरोत्तर विकास ही होता है।

क्रोध तथा क्षोभ आदि विकारों से मन में मलिनता, हृदय में अशुद्धि, बुद्धि में अविवेक आ जाता है, जो पतन का मूल है। अतएव प्राप्त सौन्दर्य को सुरक्षित रखने के लिए क्षोभ रहित होना अत्यन्त आवश्यक है। क्षोभ का उदय होते ही धीरता, वीरता और गम्भीरता क्षीण हो जाती है, जिससे अनेक निर्बलताएँ अपने आप आ जाती हैं।

गुणों का अभिमान दोषों का मूल है; कारण कि वास्तविक निर्दोषिता सभी गुणों से अतीत है। यदि प्राणी अपने प्रति होने वाले सद्व्यवहार को करने वाले की उदारता न मान कर अपना गुण मान लेगा तो गुण में आबद्ध हो जायगा और दूसरे की उदारता का आदर न कर पाएगा, जिससे उसकी हृदयशीलता विकसित न हो सकेगी।

हृदयशीलता के बिना सरसता नीरसता में और मधुरता कटुता में बदल जाती है, जिससे परस्पर स्नेह की वृद्धि नहीं हो पाती। इतना ही नहीं, कालान्तर में गुण दोषों में बदलने लगते हैं; क्योंकि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गुणों का उपभोग करने से सीमित अहंभाव तथा परिच्छिन्नता दृढ़ होती है और परिच्छिन्नता दृढ़ होने से वासनाओं का उदय होने लगता है, जो ह्रास का मूल है।

प्रत्येक गुण के उपभोग में किसी न किसी अंश में दोष विद्यमान रहते हैं। इतना ही नहीं, उपभोग स्वयं एक बड़ा दोष है; क्योंकि उपभोग के रस में आबद्ध प्राणी एकता को सुरक्षित नहीं रख पाता। उसके जीवन में अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न हो जाते हैं, जो भय के मूल हैं। यह नियम है कि भयभीत प्राणी ही दूसरों को भय देता है। भयरहित हुए बिना अभिन्नता आ नहीं सकती। अभिन्नता के बिना वासनाओं का अन्त सम्भव नहीं है और निर्वासना के बिना निर्वैरता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुण उत्पन्न ही नहीं होते--जो मानव की माँग है। जो बल दूसरों की निर्बलताओं को दूर नहीं कर सकता वह वास्तव में बल ही नहीं है। बल के द्वारा निर्बलों पर विजयी होना अपने बल को दूषित करना है, क्योंकि पराजित होने पर एक गहरी वेदना उत्पन्न होती है और विजयी होने पर अभिमान आ जाता है अभिमान प्रमाद को और वेदना जागृति को उत्पन्न करती है। प्रमाद से शक्तिहीनता का और जागृति से उत्तरोत्तर शक्ति का संचय होने लगता है और फिर पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न हो जाता है, जो पराजित को विजयी और विजयी को पराजित करता रहता है।

यदि किसी की निर्बलता को अपना बल न माना जाय तो निराभिमानता स्वतः आ जाती है। निराभिमानता आ जाने पर आपस में एकता का संचार होने लगता है और बल निर्बलों की सेवा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

में लग जाता है, जिससे निर्बलता तथा बल का अभिमान मिट कर वास्तविक सबलता आ जाती है, जो सभी को प्रिय है।

छठा नियम

पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव अर्थात् कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।

प्रत्येक प्राणी का अस्तित्व संसार-सागर की एक बूँद के तुल्य है अथवा यों कहो कि सारा विश्व एक ही प्रकृति का कार्य है। कारण और कार्य में स्वरूप की एकता होने पर भी गुणों की भिन्नता होती है। गुणों के भिन्नता के कारण कर्म की भिन्नता और स्वरूप की एकता के कारण स्नेह तथा लक्ष्य की एकता का होना निर्विवाद सत्य है। इस दृष्टि से हम सब किसी एक की ही सत्ता से सत्ता वाले, और किसी एक के प्रकाश से ही प्रकाशित हैं। अतएव गुणों की भिन्नता के कारण व्यावहारिक भिन्नता होने पर भी परस्पर में आत्मीयता का परिचय देने के लिए पारिवारिक भावनाओं के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव करना आवश्यक है।

सद्भाव हृदय की वस्तु है और प्रीति का उद्गम स्थान है। सद्भाव के अनुरूप ही कर्म का जन्म होता है और कर्म के अनुसार ही सम्बन्ध की स्थापना होती है। सम्बन्ध के अनुरूप सम्बोधन होने पर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कर्त्तव्य कर्म की दृढ़ता होती है, जिससे व्यक्ति तथा समाज दोनों का निर्माण होता है और सच्चरित्रता की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।

साधन निर्माण के लिए ही पारस्परिक सद्भाव की स्वीकृति की जाती है। अपवित्रता को पवित्रता में परिवर्तन करने के लिए ही भिन्न भिन्न प्रकार के सम्बन्धों की स्थापना की गई है। अतएव सम्बन्ध के अनुरूप ही सम्बोधन करना उचित है। यदि स्थापित किए हुए सम्बन्धों के अनुरूप सम्बोधन न किया जाय तो पवित्रता को सुरक्षित रखना सम्भव नहीं है। क्योंकि देहाभिमान रखते हुए पशु प्रकृति का भी प्रभाव रहता है। पशुता को मानवता में बदलने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि जो सम्बन्ध अपनी सांस्कृतिक मर्यादा एवं सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप स्वीकार किए गए हैं, उस स्वीकृति के अनुसार ही सम्बोधन किया जाय, इससे सद्भाव की सिद्धि होती है अर्थात् पारस्परिक व्यवहार में पवित्रता आ जाती है। सद्भाव की सिद्धि होने पर राग को वैराग्य में और भोग को योग में परिवर्तित करने के लिए देहाभिमान से रहित होना अनिवार्य है। यह तभी सम्भव होगा जब कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता को अपनाया जाय। यह नियम है कि ज्यों ज्यों स्नेह की एकता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों स्वार्थ-भाव अर्थात् भोग की इच्छा मिटती जाती है। इच्छाओं का अन्त होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। चित्त शुद्ध होने पर सब प्रकार के राग का अन्त हो जाता है। राग का अन्त होते ही वीतरागता स्वतः आ जाती है और वीतरागता आते ही प्राणी-मात्र में आत्मीयता अर्थात् सर्वात्मभाव का अनुभव हो जाता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सातवाँ नियम

निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक रूप से सेवा करना।

प्रत्येक प्राणी में विवेक-भाव तथा क्रियाशक्ति विद्यमान है। जब प्राणी विवेक से भाव तथा भाव से क्रिया की ओर गतिशील होता है, तब भोग में आबद्ध होता जाता है, किन्तु भोग से योग की ओर गतिशील होने के लिए क्रिया को भाव में और भाव को विवेक में विलीन करना होगा। इसी मूल सिद्धान्त को चरितार्थ करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हमारी प्रत्येक चेष्टा किसी एक ही भाव में विलीन हो। जब सभी चेष्टाएँ एक ही भाव में विलीन हो जायगी तब भाव स्वयं विवेक में विलीन हो जायगा जो वास्तव में योग है। अतः भोग से योग की ओर गतिशील होने के लिए प्रत्येक क्रिया द्वारा अपने भाव को सुदृढ़ करना होगा। भाव असीम और क्रिया सीमित होती है। अतएव असीम भाव को सबल तथा स्थायी बनाने के लिए निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति सेवा करना आवश्यक है, कारण कि प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति सीमित है। समीपस्थ समाज की क्रियात्मक रूप से सेवा करने से परस्पर एकता का प्रसार होगा और पवित्र भावों की दृढ़ता होगी, जिससे भाव विवेक में विलीन होकर प्राणी को सहज योग में प्रतिष्ठित कर देगा।

सेवा करते समय केवल इसी बात पर दृष्टि रहे कि प्राप्त सुख किसी दुखी के अधिकार की रक्षा में व्यय हो रहा है। वह दुखी कौन है, क्या है, इस पर लेशमात्र भी दृष्टि नहीं जानी चाहिए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

फ्र
३२५

अपने समीप रहता है, उसका अपने पर कुटुम्बीजनों के समान ही अधिकार है। वैसे तो प्राणी जिन्हें अपना मान लेता हैं उनसे प्रीति तथा उनकी सेवा स्वाभाविक ही करता है, पर मोहयुक्त होने के कारण वह केवल उन्हीं को अपना मानता है जिनसे शारीरिक सम्बन्ध है। किन्तु सेवक के जीवन में तो मोह के लिए कोई स्थान ही नहीं है, उसका सब कुछ सभी के लिए है।

एकता अनेक प्रकार की होती है—सामाजिक एकता, कर्म की एकता, प्रीति की एकता, विचारों क एकता, लक्ष्य की एकता इत्यादि इत्यादि। पर, सब के साथ वास्तविक एकता तो जातीय अथवा स्वरूप की है। स्वरूप की एकता का अनुभव तत्त्व-दृष्टि से होता है और जातीय एकता का आस्तिक बुद्धि से तथा मानी हुई एकता व्यवहारिक दृष्टि से प्रतीत होती है। जिनसे अपना सम्बन्ध हैं अथवा जो अपने समीप हैं वे ही निकटवर्त्ती हैं। उनकी क्रिमात्मकरूप से सेवा करने से भाव में शुद्धता आ जाती है। ज्यों-ज्यों भाव शुद्ध होता जाता है, त्यों-त्यों दूरी तथा भेद मिट जाता है। ज्यों-ज्यों भेद मिटता जाता है, त्यों-त्यों सेवा की सद्‌भावना विभु अर्थात् व्यापक होती जाती है और फिर निकटवर्त्ती तथा दूरवर्ती का भेद नहीं रहता। विवेक से सद्‌भाव की उत्पत्ति होती है और क्रियात्मक सेवा से उसकी पुष्टि होती है। प्राणी जहाँ है वही भाव के अनुरूप सुगमता-पूर्वक रचनात्मक सेवा कर सकता है। जिस किसी को जो कुछ मिला है वह प्राकृतिक न्याय है। इस दृष्टि से हमारा पड़ोसी चाहे जैसा हो हमारी सेवा का अधिकारी है। जिसे हम किसी भी नाते से अपना कह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सकते हैं, वह अपना निकटवर्ती है। आध्यात्मिक तथा आस्तिकवा
की दृष्टि से चराचर जगत् अपना निकटवर्ती है, पर सृष्टि अनन
और व्यक्तिगत शक्ति सीमित होने के कारण क्रियात्मकरूप से तो सम
पस्थ प्राणियों की ही सेवा हो सकती है, तथापि भाव असीम रह सक
है। असीम भाव होने पर राग द्वेष मिट जाता है और हृदय त्याग त
प्रेम से भर जाता है। सेवा करने के लिए तो सभी अपने हैं औ
अपने लिए तो केवल वे ही अपने हैं जो सभी वस्तु-अवस्था एवं पा
स्थितियों से अतीत हैं। उनसे अभिन्नता अथवा सर्वहितकारी भाव
की दृढ़ता त्याग एवं प्रेम से ही सम्भव है। प्रेम वही कर सकता
जो किसी का बुरा नहीं चाहता और त्याग वही कर सकता है जो चा
रहित है। किसी का बुरा न चाहने से हृदय प्रेम से भर जाता
और चाह रहित होने से त्यागमय जीवन हो जाता है। अतः त्याग ए
प्रेमयुक्त जीवन बनाने के लिए स्वार्थ-रहित भाव से निकटवर्त्ती ज
समाज की यथाशक्ति सेवा करना अनिवार्य है।

आठवाँ नियम

शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक क
में स्वावलम्बन।

मानव शरीर बड़े ही महत्त्व की वस्तु है; क्योंकि इस तन से
प्राणी साधना में प्रवृत्त हो कर अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर कृ
कृत्य हो सकता है। अतः ऐसे अनुपम शरीर के हित के लिए आ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बिहार में संयम करना अनिवार्य है। किन्तु, असावधानी के कारण प्राणी हित की दृष्टि को त्याग कर सुख की दृष्टि अपनाता है, अर्थात् आहार-विहार में विलासी तथा असंयमी हो जाता है । इसका परिणाम बड़ा ही भयंकर तथा दुःखद सिद्ध होता है; क्योंकि अहितकर चेष्टाओं में प्रवृत्त होना जीवन का अनादर है, प्रकृति का विरोध है और पौरुषेय विधान का उल्लङ्घन है। इतना ही नहीं, प्राणी सुख-दुःख के पाश में आबद्ध होकर अपने को दीन-हीन बना लेता है और साधनयुक्त जीवन से वंचित हो जाता है जो वास्तव में पशुता है। आहार का सम्बन्ध प्राण अर्थात् जीवन-शक्ति से है और बिहार का सम्बन्ध मन इन्द्रिय आदि से है । प्राण-शक्ति का क्षय अथवा अभाव होने पर मन-इन्द्रियादि सभी अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाते हैं जिससे प्राणी अपने अभीष्ट को प्राप्त नहीं कर पाता । इस दृष्टि से जीवन-शक्ति का सुरक्षित रखना तथा उसका सद्व्यय करना अत्यन्त आवश्यक है।

जीवन-शक्ति को सुरक्षित रखने के लिए आहार अर्थात् भोजन-विज्ञान पर यथेष्ट विचार करना चाहिए और जिस आहार से शारीरिक हित हो उसी का सेवन करना चाहिए।

आहार बहुधा तीन प्रकार के होते हैं। १. हितकर, २. रुचिकर ३. सुखकर । हितकर आहार सदैव करना चाहिए, रुचिकर कोई एक वस्तु होनी चाहिए और सुखकर कभी-कभी लेना चाहिए। हितकर भोजन वही है जिसमें अधिक से अधिक प्राकृतिकता तथा सात्त्विकता हो—जैसे स्वस्थ गऊ का धारोष्ण दुग्ध और गेहूँ, जौ, चावल, मूंग,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

फल एवं पत्ती वाले शाक इत्यादि। रुचिकर तथा सुखकर भोजन में इतना अन्तर है कि रुचि शरीर की आवश्यकतानुसार यथा समय वह रसों में से किसी रस विशेष की हुआ करती है, वस्तु की नहीं और सुखकर भोजन में स्वाद की प्रधानता होने के कारण किसी वस्तु विशेष का आग्रह रहता है, केवल रस का नहीं। रुचिकर भोजन में प्रधानता रस की होती है, स्वाद की नहीं, यद्यपि स्वाद रुचिकर रस में ही आता है किन्तु तृष्णापूर्वक भोजन करने से रस का बोध हो नहीं पाता और केवल वस्तु तथा स्वाद में प्रवृत्ति दृढ़ हो जाती है, जो अनेक प्रकार के रोगों की उत्पत्ति का कारण हैं। आसक्तिपूर्वक भोजन करने का स्वभाव केवल इस कारण बन जाता है कि प्राणी भोजन में ही जीवन-बुद्धि कर लेते हैं जो वास्तव में प्रमाद है। भोजन वास्तव में यज्ञ है, उपभोग नहीं। इस दृष्टि से भोजन में उन्हीं वस्तुओं को लेना चाहिए जिनसे प्राण-देवता की यथावत् पूजा-सेवा हो सके अर्थात् प्राण-शक्ति सुरक्षित रह सके। यज्ञ में उन्हीं वस्तुओं का उपयोग होता है, अर्थात् आहुति दी जाती है जो हितकर हों और हित उन्हीं वस्तुओं से होता है जो स्वभाव से सात्विक हों।

भोजन कब और कैसे करना चाहिए—इसकी जानकारी भी आवश्यक है। स्वास्थ्य की दृष्टि से दिन के दूसरे पहर में और रात्रि के प्रथम पहर में ही भोजन कर लेना चाहिए। भोजन शान्त तथा प्रसन्न चित्त से चबा-चबा कर करना चाहिए, जिससे मुँह का लाला रस पर्याप्त मात्रा में मिल जाय, इस सम्बन्ध में किसी-किसी ने तो यह तक कह दिया है कि भोज्य पदार्थों को पीओ और पेय पदार्थों

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

को खाओ, अर्थात् भोज्य पदार्थों को इतना चबाओ कि वह तरल बन जाय। भोजन की मात्रा न तो अधिक हो, न कम, भोजन उतनी ही मात्रा में करना चाहिए जिससे पेट का भान न हो। पेट का भान न्यून या अधिक आहार करने पर ही होता है। और ये दोनों स्थितियाँ अप्राकृतिक हैं। कुछ न कुछ शारीरिक श्रम बिना किये भोजन करना अहितकर है, अतएव कुछ श्रम करने के पश्चात् ही भोजन करना चाहिए। भोजन की उत्पत्ति तथा उसके पचाने का सम्बन्ध सूर्य से है। इसी कारण दिन के दूसरे पहर के भीतर और रात्रि के प्रथम पहर में भोजन करना हितकर होता है। भोजन उन्हीं लोगों का बनाया हुआ स्वास्थ्यकर होता है जिनसे कर्म, विचार तथा स्नेह की एकता हो। भोजन करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि अपने समीप कोई ऐसा प्राणी तो नहीं है जिसने भोजन न किया हो। जहाँ तक हो सके यथाशक्ति बाँटकर ही भोजन करना चाहिए। भोजन बनाते तथा बनवाते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि बनाए हुए भोजन में से दूसरों को भी देना है। केवल अपने लिए ही भोजन बनाना अथवा बनवाना उचित नहीं है; क्योंकि प्रत्येक प्राणी ने उस अवस्था में भी भोजन किया है जब कि वह स्वयं नहीं बना सकता था। इस निर्विवाद सत्य का सदैव आदर करना चाहिए। स्मरण रहे कि हमें जो कुछ मिला है वह किसी की देन है। अतएव देने के योग्य होने पर देकर ही भोजन करना चाहिए।

बिहार, मन इन्द्रिय आदि का भोजन है। इस सम्बन्ध में भी यथेष्ट ध्यान रखना अनिवार्य है। मन, इन्द्रिय आदि में उत्पन्न हुये

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वेग को दबाना अथवा अमर्यादित ढंग से पूरा करना उचित नहीं है। जो वेग उत्पन्न हो उसको नियमानुकूल साधन-बुद्धि से पूरा करना चाहिए। वेग छिपे हुए राग का परिणाम है। जिस राग को विवेक-पूर्वक नहीं मिटा पाते उसकी वास्तविकता का अनुभव करने के लिये नियमित एवं धर्मानुकूल प्रवृत्ति अनिवार्य है। तथा प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वाभाविक निवृत्ति को अपना कर मन एवं इन्द्रिय आदि को स्वस्थ तथा शान्त करना चाहिए; क्योंकि प्रवृत्ति के अन्त में मन, इन्द्रिय आदि के शान्त तथा स्थिर होने पर ही आवश्यक शक्ति का विकास होता है--जो उन्नति का मूल है।

छींक, प्यास, भूख, निद्रा एवं मलमूत्र-त्याग इत्यादि शारीरिक वेगों का यथा समय तुरन्त निवारण करना ही स्वस्थ्यकर है। कामवेग के सम्बन्ध की बात पर भी विचार करना आवश्यक है। मनोविज्ञान की दृष्टि से काम का वेग शरीर के अन्य सभी वेगों से बलवान तथा प्रधान है। जब तक सर्व इन्द्रियों का ब्रह्मचर्य सिद्ध नहीं हो जाता, तब तक काम पर विजयी होना सम्भव नहीं। शरीर की सत्यता तथा सुन्दरता एवं इन्द्रिय जन्य ज्ञान का सद्भाव जब तक रहता है, तब तक काम का अन्त नहीं हो पाता। अतः काम पर विजयी होने के लिए शरीर की वास्तविकता का यथेष्ट ज्ञान तथा अपने अभिष्ट में अत्यन्त प्रियता का जागृत होना अनिवार्य है, कारण कि लक्ष्य की प्रियता का रस सभी इच्छाओं को खाकर तीव्र लालसा उत्पन्न करता है, जो काम का अन्त करने में समर्थ है। किसी आस्तिक का कथन है कि राम की लालसा काम को खा कर राम से अभिन्न कर देती है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इसके अतिरिक्त जहाँ तक हो सके व्यक्तिगत दैनिक कार्य अपने आप कर लेना चाहिए। किसी अन्य की सहायता उस समय तक न ली जाय जब तक कोई विवशता न आ जाय; कारण कि स्वयं अपना काम अपने आप न करने से श्रम के महत्त्व का अनादर होता है जिससे प्राणी आलसी और विलासी बन जाता है, इससे अर्थ का महत्त्व बढ़ता है जो प्राणी में संग्रह की भावना उत्पन्न करता है। इससे उसमें मिथ्याभिमान आ जाता है और समाज में दरिद्रता की वृद्धि होती है। अतः स्वावलम्बन को अपना कर ही समाज की दरिद्रता का अपहरण तथा अपने को आलस्य, अभिमान एवं विलासिता से मुक्त किया जा सकता है।

नवाँ नियम

शरीर श्रमी, मन संयमी, हृदय अनुरागी, बुद्धि विवेकवती तथा अहं को अभिमान शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।

अपने को सुन्दर बनाने के लिए शारीरिक श्रम अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि जिसका शरीर श्रमी नहीं होता वह स्वस्थ नहीं रह सकता और न समय का ही आदर कर पाता है। समय का अनादर जीवन का अनादर है, कारण कि समय का आदर बिना किये निश्चित कार्यक्रम की पूर्त्ति सम्भव नहीं है। दैनिक कार्यों की अपूर्त्ति से मन में चंचलता, खिन्नता और व्यर्थ चिन्तन आदि विकार उत्पन्न होते हैं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जिसका परिणाम सर्वथा दुःखद ही सिद्ध होता है। अतएव,शारीरिक श्रम विकास का मूल है। शरीर के श्रमी होने पर मन में स्वतः संयम आ जाता है। ज्यों-ज्यों मन का संयम सबल तथा स्थायी होता जाता है त्यों-त्यों आगे पीछे का व्यर्थ चिन्तन मिटता जाता है। व्यर्थ चिन्तन मिटते ही मन में उत्पन्न हुए शुद्ध संकल्पों की पूर्त्ति स्वयं होने लगती है। यदि प्राणी संकल्पों की पूर्त्ति के सुख में अपने को आबद्ध न करे तो मन निर्विकल्प हो जाता है। मन के निर्विकल्प होते ही विषय इन्द्रियों में और इन्द्रियाँ मन में विलीन होने लगती हैं और फिर सहज ही योग की उपलब्धि हो जाती है।

योग कल्पतरु के समान है। यह जिज्ञासु को विचार, प्रेमी को प्रेम एवं भौतिकवादी को आवश्यक शक्ति प्रदान करता है। जिस प्रकार पृथ्वी में पड़ा हुआ बीज स्वयं उपजता है, उसी प्रकार मन के निर्विकल्प हो जाने पर छिपी हुई वासनाओं की पूर्त्ति स्वयं होने लगती है। इस दृष्टि से योग की आवश्यकता प्रत्येक मानव को है और उसकी उपलब्धि मन के संयमी होने पर ही सम्भव है। जब मन संयमी हो जाता है, तब बुद्धि सम होकर विवेकिनी हो जाती है और फिर निर्मोहता का उदय होता है तथा अपने कर्त्तव्य और दूसरों के अधिकार का बोध हो जाता है। मोह रहित होने से निर्वासना आ जाती है और फिर किसी प्रकार का बन्धन शेष नहीं रहता—अर्थात् वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त हो जाती है, जो सभी को प्रिय है। स्वाधीनता प्राप्त होते ही हृदय अनुरागी हो जाता है और अनुरागी हृदय में लेशमात्र भी राग-द्वेष शेष नहीं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रहता । इतना ही नहीं जिन प्राणियों से किसी प्रकार का सम्बन्ध या परिचय नहीं होता, उन्हें सुखी देख कर अनुरागी हृदय में प्रसन्नता और दुखी देख कर करुणा का संचार होता है, क्योंकि अनुरागी हृदय किसी का बुरा नहीं चाहता, सभी के हित में रत रहता है। आस्तिकवाद की दृष्टि से अनुरागी हृदय में ही भक्ति का अनुपम रस उत्पन्न होता है, जिसको पाकर प्राणी कृत-कृत्य हो जाता है। भक्ति के बिना अखंड एवं अनन्त रस की उपलब्धि सम्भव नहीं, जो मानव की माँग है।

अनुरागी हृदय हो जाने पर अहम् अभिमान शून्य हो जाता है, अभिमान शून्य होते ही परिच्छिन्नता मिट जाती है और परिच्छिन्नता मिटते ही अन्नत नित्य जीवन से अभिन्नता हो जाती है, जो जीवन का चरम लक्ष्य है।

शरीर श्रमी तथा मन संयमी होने पर शक्ति, बुद्धि विवेकवती होने पर मुक्ति, हृदय अनुरागी होने पर भक्ति और अहम् अभिमान-शून्य होने पर अनन्त एवं नित्य जीवन से अभिन्नता स्वतः ही प्राप्त हो जाती है, जो जीवन की पूर्णता है। अतः अपने को सर्वाङ्ग सुन्दर वनाने के लिए शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी और अहम् अभिमानशून्य होना परम अनिवार्य है।

दसवाँ नियम

सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना।

यथेष्ट विचार करने पर यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि सिक्के की जीवन में कोई आवश्यकता ही नहीं है। सिक्का केवल

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आदान-प्रदान करने के लिए एक माध्यम है और कुछ नहीं। सिक्के के महत्त्व ने मानव को अभिमानी, विलासी, आलसी एवं संग्रही बना दिया है। जीवन में आवश्यकता वस्तुओं की है जिनकी उत्पत्ति शारीरिक एवं बौद्धिक श्रम तथा प्राकृतिक वस्तुओं द्वारा होती है। वस्तुओं का उपयोग व्यक्तियों की रक्षा में है, सिक्के के संग्रह में नहीं। पर, जब से वस्तुओं के उत्पादन को सिक्के के बढ़ाने में लगा दिया गया है, तब से मानव-समाज में विषमता, दरिद्रता तथा अनेक प्रकार के अभाव उत्पन्न हो गए हैं, जिनके फलस्वरूप समय-समय पर अनेकों विप्लव होते रहते हैं। आज तो सिक्के के बढ़ाने में बड़े-बड़े शिक्षितों एवं वैज्ञानिकों को खरीद कर उनके शिक्षा तथा विज्ञान बल का दुरुपयोग किया जा रहा है। यह प्रमाद सिक्के की महिमा से ही उत्पन्न हुआ है।

पारस्परिक संघर्ष तभी मिट सकते हैं, जब सिक्के का उपयोग एकमात्र वस्तुओं के उत्पादन में किया जाय और वस्तुओं का उपयोग व्यक्तियों की रक्षा के लिए हो, अर्थात् उत्पादन कर्त्ताओं की मनोवृत्ति में यह सद्भावना अङ्कित हो जाय कि हमारा उत्पादन व्यक्तियों की रक्षा के लिए है, सिक्का-संग्रह करने के लिए नहीं और व्यक्तियों के मन में यह भावना जागृत हो जाय कि जीवन की सार्थकता विवेक में ही निहित है। विवेक के बिना अपने कर्त्तव्य और दूसरों के अधिकार का बोध ही नहीं होता और इससे अनेक प्रकार के पारस्परिक संघर्ष और द्वन्द्व उत्पन्न होते रहते हैं। यहाँ तक कि अधिकार लालसा के प्रलोभन से मोहित

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होकर अनेक दलों का जन्म हुआ है और एक दल ने दूसरे दल के प्रति जो नहीं करना चाहिए वह भी किया है। इतना ही नहीं मानव की आकृति में उसने ऐसी घृणित चेष्टाएँ की है जैसी पशु-पक्षी भी नहीं करते। इन हृदय--विदारक दुःखद घटनाओं पर विचार करने से यह प्रकाश मिलता है कि व्यक्तियों को विवेक अपना कर सत्यान्वेषण करते हुए सत्य से अभिन्न हो जाना चाहिए। पर यह तभी सम्भव होगा, जब मानव सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक और विवेक से सत्य का अधिक महत्त्व दे, अर्थात् वस्तुओं के लिए सिक्के को व्यय किया जाय, व्यक्तियों की रक्षा के लिए वस्तुओं का उपयोग किया जाय और बहु संख्या पर विशेष ध्यान न दे कर विवेकयुक्त व्यक्तियों का आदर किया जाय जिससे उनके द्वारा मिले हुए प्रकाश से कर्त्तव्य-परायणता प्राप्त हो और अधिकार-लालसा का मोह निवृत्त हो जाय। कर्त्तव्य परायणता ही वास्तविक अधिकार है और कर्त्तव्य परायण प्राणी ही समाज के ऋण से मुक्त होकर सत्य का अनुभव कर कृत-कृत्य हो सकता है।

ग्याहरवां नियम

व्यर्थ चिन्तन, त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना।

व्यर्थ चिन्तन में आबद्ध प्राणी वर्तमान का सदुपयोग नहीं कर पाता और वर्तमान के सदुपयोग के बिना भविष्य का उज्ज्वल होना

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सम्भव नहीं है। अतः व्यर्थ चिन्तन का त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। व्यर्थ चिन्तन का अन्त होने पर ही सार्थक चिन्तन का उदय होता है। सार्थक चिन्तन का उदय होते ही जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है उसकी प्राप्ति और जिससे मानी हुई एकता है उसकी निवृत्ति स्वतः हो जाती है और फिर सब प्रकार के अभावों का अभाव हो जाता है। इस दृष्टि से सार्थक चिन्तन कितने महत्त्व की वस्तु है--यह बात स्पष्ट हो जाती है।

व्यर्थ चिन्तन का अन्त करने के लिए उसका स्वरूप जान लेना अनिवार्य है। आगे-पीछे का चिन्तन व्यर्थ चिन्तन है। तथा जिसकी प्राप्ति कर्म द्वारा होती है, उसका चिन्तन भी व्यर्थ चिन्तन है। जिससे देश-काल की दूरी हो, जो उत्पत्ति विनाश–युक्त हो तथा जिसमें जड़ता हो अर्थात् जो अपने को अपने आप प्रकाशित न कर सके उसका चिन्तन भी व्यर्थ चिन्तन है।

इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि किसी भी वस्तु अवस्था एवं परिस्थिति का चिन्तन नहीं करना चाहिये; क्योंकि सभी अवस्थाएं किसी न किसी कर्म का परिणाम है, चिन्तन का नहीं।

चिन्तन केवल उसी को करना है जो सभी वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों से अतीत है। उसकी प्राप्ति किसी कर्म से सम्भव नहीं है।

सार्थक चिन्तन और कर्म में एक बड़ा भेद है। कर्म के लिए किसी न किसी बाह्य संगठन एवम् वस्तुओं की अपेक्षा होती है और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उसका जन्म भोग-वासना से ही होता है तथा चिन्तन बिना वाह्य सहायता के स्वाभाविक रूप से होता है और उसका जन्म स्वाभाविक आवश्यकता से ही होता है--भोग इच्छाओं से नहीं। पर, निरर्थक चिन्तन विषयासक्ति अर्थात् राग से ही होता है जिसका समूल अन्त करना आवश्यक है। निरर्थक चिन्तन काठ के समान और सार्थक चिन्तन अग्नि के तुल्य है। जिस प्रकार काठ शेष न रहने पर अग्नि स्वयं बुझ जाती है, उसी प्रकार सार्थक चिन्तन निरर्थक चिन्तन को खा कर अचिंतता में बदल जाता है। ज्यों-ज्यों अचिंतता सबल एवं स्थाई होती जाती है, त्यों-त्यों राग वैराग्य में और भोग योग में परिणत होता जाता है। इस प्रकार योग-युक्त होने पर जिज्ञासु तत्त्व-ज्ञान तथा भक्त भगवान् से अभिन्न हो जाता है।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। उसके सदुपयोग में प्राणी का हित निहित है। क्योंकि वर्तमान के संभल जाने से भविष्य स्वतः ही उज्ज्वल बन जाता है। प्राणी प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में सर्वथा स्वतन्त्र है। परतंत्रता केवल अप्राप्त परिस्थिति की प्राप्ति में ही होती है। इसी कारण उन्नतिशील प्राणी प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करके भविष्य को उज्ज्वल बना लेते हैं और किसी अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान नहीं करते क्योंकि; अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान करने में प्राप्त शक्ति तथा योग्यता का अपव्यय ही होता है; कुछ प्राप्त नहीं होता।

प्रत्येक परिस्थिति भौतिकवाद की दृष्टि से कर्मों का परिणाम है। आध्यात्मवाद की दृष्टि से केवल इन्द्रिय जन्य ज्ञान का सद्भाव तथा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रतीतिमात्र है और आस्तिक दृष्टि से वह प्रिय का संदेश एवम् आदेश है और कुछ नहीं। अतः आस्तिक को अपने प्रेमास्पद का आदेश एवम् सन्देश मान कर उन्हीं के नाते भौतिकवादी को सर्व हितकारी कर्मों द्वारा विश्व के नाते और अध्यात्मवादी को असंगता-पूर्वक सर्वात्मभाव से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर भविष्य को उज्ज्वल बना लेना चाहिए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मानव सेवा संघ

सोसाइटीज रजिस्ट्रेशन ऐक्ट २१ औफ १८६० के अन्तर्गत पंञ्जीकृत
रजिस्टर्ड कार्यालय : मानव सेवा सङ्घ, वृन्दावन, उत्तर प्रदेश

स्मृति-पत्र (मेमोरेन्डम औफ एसोसिएशन)

प्राकृतिक नियमानुसार मानव-समाज को सदैव सत्पुरुषों द्वारा प्रकाश मिलता रहा है, यह निर्विवाद सिद्ध है। आज मानव-समाज में दो विभिन्न विचारधाराओं का संघर्ष है। यद्यपि दोनों का वास्तविक लक्ष्य एक ही है, तथापि उनमें प्रमादवश परस्पर-स्नेह की एकता का अभाव होता जा रहा है, जिसका परिणाम बड़ा ही भयंकर तथा दुःखद सिद्ध हुआ है। एक विचारधारा तो यह है कि हम समाज से विमुख होकर एकान्तिक जीवन द्वारा अपना कल्याण करें और दूसरी यह है कि हम भले ही चाहे जैसे रहें, पर समाज को सुन्दर बना कर अपने को सुखी बनायें। किन्तु इन दोनों में स्नेह की एकता का संचार करना ही वास्तविक उपयोगी विचारधारा है। यह तभी सम्भव है, जब प्राणी सत्पुरुषों से प्राप्त प्रकाश द्वारा अपने को निर्दोष बनाकर, अपने कर्तव्य से दूसरों के अधिकारों की रक्षा करता हुआ, स्नेह की एकता स्थापित करके, सेवा द्वारा समाज को सुन्दर बनाने के लिए प्रयत्नशील बना रहे। अतः एक संत की प्रेरणा से इस संस्था की स्थापना की जा रही है।

(१) संस्था का नाम : इस संस्था का नाम 'मानव सेवा सङ्घ' होगा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

(२) रजिस्टर्ड कार्यालयः संघ का रजिस्टर्ड कार्यालय, जिसे प्रधान कार्यालय कहा जायगा, वृन्दावन उत्तर प्रदेश में स्थित होगा।

(३) उद्देश्य : इस संघ का उद्देश्य निम्नलिखित नीति तथा कार्यों में से एक या अधिक या सभी को कार्यान्वित करना होगा।

(क) राष्ट्र, जाति तथा सम्प्रदाय का भेद न रखते हुए भिन्न-भिन्न उपयुक्त प्रयोगों द्वारा मानव-समाज के निम्नलिखित वर्गों की यथाशक्ति सेवा करनाः—

(१) बालक
(२) महिला
(३) रोगी
(४) विरक्त
(५) समाज-सेवक

(ख) मानव हितकारी पशुओं तथा वृक्षों का संरक्षण और संवर्धन।

(ग) सत्संग की योजना, विचार-विनिमय तथा सद्ग्रन्थों एवं आध्यात्मिक साहित्य के प्रकाशन द्वारा सत्य का अन्वेषण करना।

(घ) जितेन्द्रियता, सेवा, भगवच्चिन्तन तथा सत्यान्वेषण द्वारा व्यक्ति का आध्यात्मिक उत्थान करना।

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए सभी आवश्यक साधन प्रस्तुत करना तथा उनके लिए नियम बनाना।

[किन्तु स्मरण रहे कि ये सब कार्य सोसाइटीज रजिस्ट्रेशन ऐक्ट के धारा २० के अन्तर्गत होंगे।]

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

(छ) उन संस्थाओं को जो मानव सेवा सङ्घ के उद्देश्यों को स्वीकार करते हुए सङ्घ में सम्मिलित होना चाहे उन्हें सम्मिलित करना तथा उनका प्रबन्ध करना। सम्मिलित संस्थाओं के इच्छानुसार उनके स्मारक चिन्ह तथा नाम आदि की रक्षा करना।

(ज) चल एवं अचल सम्पत्ति का अर्जन और संग्रह एवं सङ्घ के आवश्यकतानुसार उसे हस्तान्तरित करना, व्यय करना, ऋण लेना, भवन, कूप आदि का निर्माण करना अथवा प्रतिभूति (सिक्योरिटी) में लगाना।

(झ) उन सभी कार्यों को करना जिन्हें केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति सङ्घ के उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए आवश्यक समझे (किन्तु स्मरण रहे कि ये सब कार्य सोसाइटीज रजिस्ट्रेशन ऐक्ट की धारा २० के अन्तर्गत होंगे।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मानव सेवा संघ के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

संत समागम—(भाग १) पृष्ठ २६१, मूल्य १।।) चतुर्थ संस्करण।

संत समागम— (भाग २) पृष्ठ ३६१, मूल्य २) द्वितीय संस्करण।

जिनमें पूज्य स्वामीजी द्वारा दिए हुए प्रश्नों और पत्रों के उत्तर तथा अनेक विषयों-सम्बन्धी संतवाणियाँ संकलित हैं, जिनसे साधक को अनेक आध्यात्मिक समस्याओं पर सन्मार्ग-दर्शन प्राप्त होता है।

मानव की माँग— पूज्य स्वामी जी के जयपुर में शृङ्खलाबद्ध २७ व्याख्यान हुए, उनका सम्पादन इस प्रसिद्ध पुस्तक के रूप में हुआ है। इसमें मानव के नैतिक और आध्यात्मिक विकास के सभी आवश्यक पहलुओं पर गहरा, तात्त्विक; किन्तु साथ ही व्यावहारिक दृष्टि से तीव्र प्रकाश डाला गया है। मूल्य १।।)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri